दीनदयाल उपाध्याय
एकात्म मानव दर्शन

नरेन्द्र शिवाजी पटेल

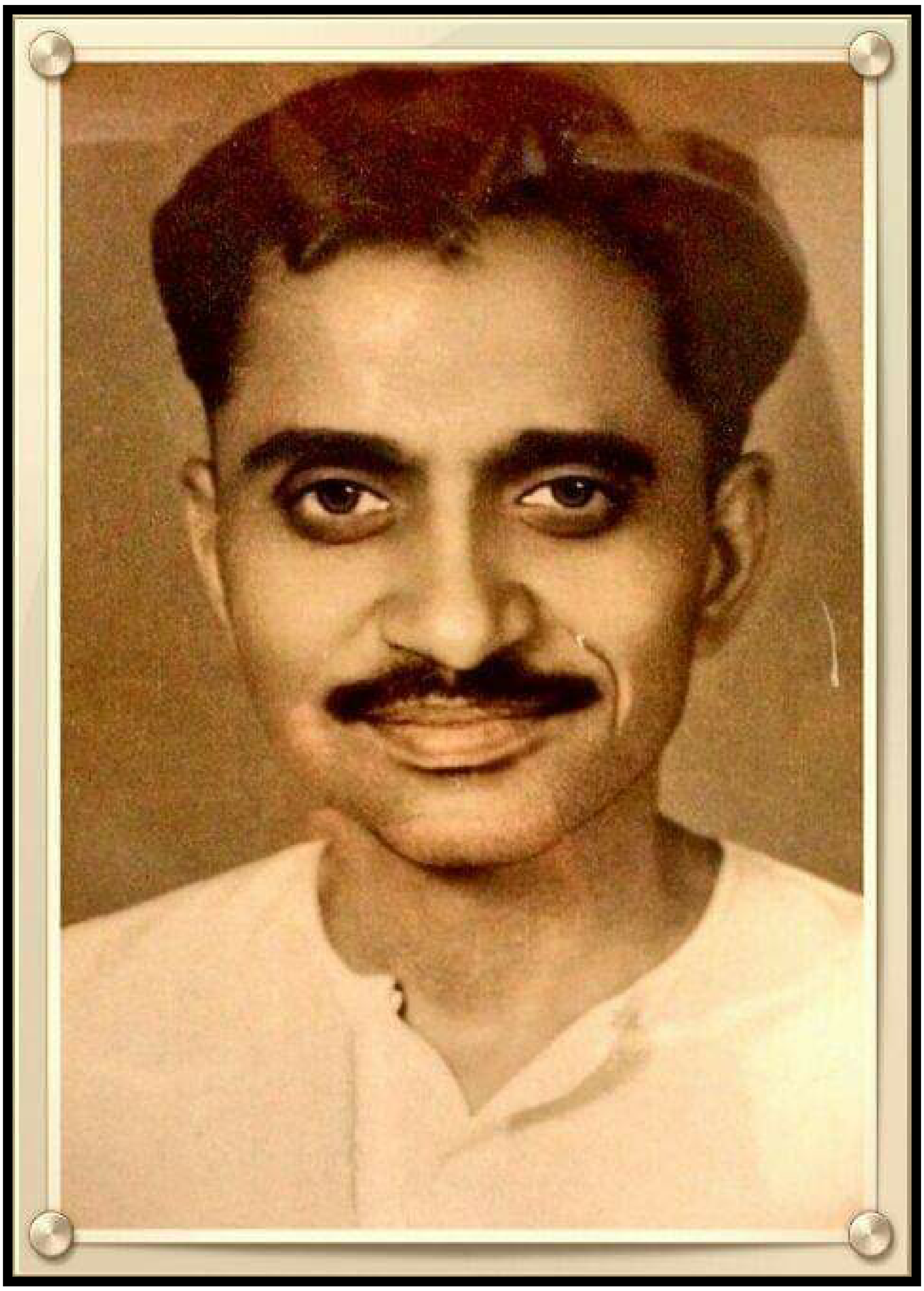

दीनदयाल उपाध्याय :

दीनदयाल उपाध्याय :

नरेन्द्र शिवाजी पटेल

प्रकाशक

संदर्भ प्रकाशन, भोपाल

ISBN : ....

दीनदयाल उपाध्याय

नरेन्द्र शिवाजी पटेल

सर्वाधिकार
लेखक

प्रकाशक **: संदर्भ प्रकाशन, भोपाल**
राकेश सिंह
जे-154, हर्षवर्द्धन नगर, भोपाल
मो. +91 9424469015

संस्करण **: प्रथम 2016**

मूल्य **: रूपये 300/-**

मुद्रण **: स्पेसीफिक प्रिंटर्स**
जेड-23, जोन-1, एम.पी. नगर,
भोपाल (म.प्र.)

।। श्री ।।
हरि ओम
सन्यस्त कर्मयोगी
साधुमय कर्मयोगी
पंडित दीनदयाल जी
आधुनिक भारत के श्रीकृष्ण
हमारे पंडित दीनदयाल जी।

मनोभाव

पंडित दीनदयाल जी ने एक दिन में 'सम्राट चन्द्रगुप्त' नामक बाल उपन्यास लिख दिया था। हुआ यूं, एक प्रांत बैठक में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन प्रांत प्रचारक माननीय भाऊराव ने बाल साहित्य की कमी तथा आवश्यकता पर चिन्ता व्यक्त की। दीनदयाल जी ने यह बात सुनकर ठान लिया कि कुछ साहित्य सृजन करना है। अत: रात भर लिखते रहे और दूसरे दिन पाण्डुलिपि भाऊराव को सौंप दी। सभी वरिष्ठ जन इतने शीघ्र बाल उपन्यास लिख देने पर दीनदयाल जी की प्रतिभा से अनुभूत थे। यही बाल-उपन्यास 'सम्राट चन्द्रगुप्त' के नाम से प्रकाशित हुआ है और आज भी बाल साहित्य की अद्वितीय कृति है।

भाजपा की नव मनोनीत प्रदेश कार्यसमिति की प्रथम बैठक ग्वालियर में 28-29 सितम्बर 2016 को सम्पन्न हुई है। इस बैठक में पंडित दीनदयालजी के जन्म शताब्दी वर्ष को प्रभावशाली प्रकार से मनाने तथा जन-जन तक पंडित दीनदयालजी का व्यक्तित्व,नेतृत्व और कर्तृत्व पहुंचाने का संकल्प किया है। दीनदयालजी की प्रेरणा से अंतोदय अर्थात गरीब कल्याण के कार्यक्रम और समाज सेवा के अन्य प्रकल्प सरकार, संगठन तथा व्यक्तिगत प्रारंभ करने की जानकारी तथा आव्हान भी किया गया है। संयोग से 1 अक्टूम्बर से नवरात्रि प्रारंभ हो गई। इस दौरान मेरे मौनव्रत रहते हैं। अत: नवदुर्गे के नौ दिन शक्ति संग्रह के रूप में उपयोग करता हूँ। इस बार संकल्प किया है कि नौ दिन में पंडित दीनदयाल जी के जीवन, कार्य, विचार तथा राष्ट्र के पुनर्निर्माण में योगदान पर एक लघु-पुस्तिका तैयार करना है। सरल भाषा शैली तथा साधारण पाठक को भी सरलता से समझ में आने वाली, यह पुस्तिका तैयार करने का संकल्प, आज आपके सामने साकार रूप से उपस्थित है।

इस पुस्तक को लिखने की कालअवधि में ही छत्तीसगढ़ में एक घटना हुई। एक अधिकारी ने फेसबुक पर दीनदयालजी को न जानने की बात लिखते हुए नकारात्मक टिप्पणी कर दी। छत्तीसगढ़ राज्य शासन ने उस अधिकारी का स्थानान्तण कर दिया। अत: समाचार तंत्र की सुर्खियां बन गई यह घटना।

इस घटना से मुझे पंडित दीनदयालजी के वे शब्द याद आते हैं, जो उन्होंने अपनी कृति 'सम्राट चन्द्रगुप्त' की भूमिका में लिखे हैं।

''यूरोपियन विद्वानों द्वारा प्रयत्नपूर्वक एवं उनका अंधानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों द्वारा अनजाने में फैलाए हुए अंधकार...।''

दीनदयालजी ने यह शब्द स्वतंत्रता से पहले लिखे थे, एतिहासिक बातों के लिए लिखे थे। पर यह शब्द आज भी यथावत् है, बस अंतर इतना हो गया कि अधिकतम अवधि तक एक परिवार के कब्जे वाली पार्टी काँग्रेस ने स्वतंत्रता बाद का इतिहास भी अपनी सुविधा अनुसार लिखवाया, विद्यालय व महाविद्यालय के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित करके पढ़वाया और तो और न्%ब् जैसी परिक्षाओं में उसी इतिहास को पढ़कर, लिखने वालों को अधिक अंक देने का चलन रखा। ताकि घोड़े की आँखों पर लगाए जाने वाली पट्टी जैसी सोच वाले ही अधिकारी तैयार हों।

दूसरी ओर दीनदयालजी जैसे प्रसिद्धि से दूर रहने वाले, स्वप्रचार से बचने वाले महानायक पंडित ने सादगी व साधारण जीवन जीते हुए, अपने ध्येय हेतु पूर्ण निपुणता से कर्म करते हुए जीवन समर्पित कर दिया। अब यदि ऐसे महापुरुष के बारे में कोई न जाने तो यह उसके ज्ञान की सीमा को दर्शाता है।

दीनदयाल जी ने जीते-जी कभी प्रसिद्धि की कामना नहीं रखी। उनकी सादगी व साधारणत्व के अनेक उदाहरण है। उसी महापुरुष ने ऐसे राजनैतिक दल की नींव व संरचना (थ्वनदकंजपवद -ैजतनबजनतम) तैयार की है, जो स्वतंत्र भारत की पहली गैर काँग्रेसी, पूर्ण बहुमत की एक दलीय सरकार बनाने में सफल रहा है। ऐसे राजनैतिक दल का कार्यकर्ता होने का सौभाग्य हम को प्राप्त हुआ है। अत: हमारा भी कर्त्तव्य है कि उस महामानव का जीवन व विचार दर्शन जन-जन तक पहुंचे। उन्ही के मंत्र चरैवेति-चरैवेति को अपना कर उन्हीं के अंतोदय अर्थात गरीब कल्याण के सपने को पूरा करें। भारत माता को परम-वैभव पर पुर्नस्थापित करने का यही मार्ग है।

-नरेन्द्र शिवाजी पटेल

अनुक्रम

1. जीवन क्रम
    1. विषाद व कष्ट मेरा प्रारंभिक जीवन
    2. प्रतिभा, सच्चाई और संकल्प शक्ति से विद्या अर्जन
    3. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संपर्क व अटूट संबंध
    4. संघ की आज्ञा से राजनीति में प्रवेश
    5. कठोर परिश्रम से जन संघ का विस्तार
    6. राजनीति में अमूल्य योगदान
2. विस्तार, चिंतन व दर्शन व साहित्य सृजन
    1. राष्ट्रवाद
3. एकात्म मानव दर्शन
4. प्रेरक प्रसंग
5. पेरक वाक्य, सुविचार
6. समकालीन महानुभावों के विचार

जीवन क्रम

विषाद व कष्ट भरा प्रारंभिक जीवन

श्रीकृष्ण का जन्म कारावास में हुआ। जन्म होते ही जीवन दायिनी माँ देवकी से दूर माँ यशोदा की गोद में पले। बचपन में ही पूतना व कालिया नाग से संघर्ष करके उनको मुक्ति दे दी। कष्ट से सहर्ष संघर्ष का नाम ही कृष्ण है।

'दीना' का बाल्यकाल भी कष्ट भरा रहा है। सनातनी हिन्दु धर्म के ब्रह्म परायण परिवार में जन्मे दीनदयाल जी के बचपन का नाम है 'दीना'।

भगवान श्रीकृष्ण की जन्म स्थली मथुरा जिले के ग्राम 'नंगला चन्द्रभान' में अश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रम संवत् 1973 (युगाब्ध 5018) तदनुसार दिनांक 25 सितम्बर, 1916 को पिता श्री भगवती प्रसाद जी एवं माता श्रीमति रामप्यारी के प्रथम पुत्र के रूप में दीनदयाल जी का जन्म हुआ। दो वर्ष पश्चात दीनदयाल जी के सहोदर शिवदयाल का जन्म हुआ, जिनको प्यार से सभी 'शिबू' नाम से पुकारते थे।

उन दिनों श्री भगवती प्रसाद जलेसर में सहायक स्टेशन मास्टर थे। पर उन्होंने पारिवारिक कारणों से ढाई साल के दीनदयाल, उनकी माँ तथा अनुज को नाना चुन्नीलाल जी शुक्ल के घर, राजस्थान के धनकिया ग्राम भेज दिया। चुन्नीलाल जी उन दिनों धनकिया ग्राम में स्टेशन मास्टर थे। जबकि उनका पैतृक ग्राम आगरा जिले में फत्तेहपुर सीकरी के पास 'गुड़ की मँडई' था।

ढाई साल की आयु में ही पिता से दूर हो गए। कुछ दिनों बाद ही पिता भगवती प्रसाद स्वर्ग सिधार गए। विधवा माँ भी पति शोक अधिक दिन तक न सह सकी। क्षयरोग से ग्रसित होकर माँ रामप्यारी राम को प्यारी हो गई। अब सात साल के दीनदयाल और उनके अनुज की जिम्मेदारी नाना संभालने लगे। पर यह लालन-पालन भी अधिक दिन तक नहीं चल सका। दो वर्ष बाद ही नाना चुन्नीलाल का देहांत हो गया। अब दीनदयाल जी के पालन-पोषण का दायित्व मामा श्री राधारमण शुक्ल पर आ गया। वे गंगापुर (राजस्थान) स्टेशन पर फ्रंटियर मेल के गार्ड थे। कुछ वर्ष बाद उनकी मातृवत मामी तथा नानी भी मृत्यु की ग्रास बन गईं। इसी बीच दीनदयाल जी के एकमात्र सहोदर लघु भ्राता शिवदयाल भी रोगग्रस्त होकर दीनदयाल जी को अकेला छोड़कर स्वर्ग प्रस्थान कर गए। 18-19 वर्ष की आयु होते-होते दीनदयाल जी ने निकटस्थ परिजनों को मृत्यु के काल में समाहित होते हुए देखा।

शायद यही नियति का खेल था, दीनदयाल जी को वैराग्य से परिपूर्ण कर्म करने के लिए प्रेरित करने हेतु।

कुरुक्षेत्र में अर्जुन के विषाद से उत्पन्न प्रश्नों से ही श्रीकृष्ण ने भगवतगीता का उद्घोष किया है। उसी तरह दीनदयाल जी के मन में परिजनों की असमय मृत्यों से विषाद की जगह वैराग्य पूर्ण कर्म ने जन्म लिया।

स्वयं का परिवार बसाने की बजाय संसार में कष्ट भरा जीवन जी रहे मानवो के जीवन से दुख दूर करने हेतु दीनदयाल जी का मन मचलने लगा।

प्रतिभा और संकल्प शक्ति से विद्या अर्जन

दीनदयाल जी जन्मत: प्रतिभा सम्पन्न थे। ईश्वरीय वरदान से होनहार विद्यार्थी थे। पर जिस तरह लालन-पालन विभिन्न परिजनों की स्नेह छाया व विभिन्न स्थानों पर हुआ। इसी तरह शिक्षा भी विभिन्न गुरूजनों के सानिध्य तथा स्थानों पर प्राप्त की।

नौ वर्ष की आयु तक आप विद्यालय नहीं गए। पढ़ाई की कोई व्यवस्था ही नहीं थी। सन् 1925 में मामा राधारमण जी के यहां गंगापुर आने पर दीनदयाल जी की औपचारिक शिक्षा प्रारंभ हुई।

कक्षा पहली से चौथी तक की शिक्षा आपने गंगापुर में प्राप्त की। आप मेधावी विद्यार्थी थे, कक्षा में आपका प्रथम स्थान आता था।

गंगापुर में मात्र चौथी कक्षा तक ही शिक्षा व्यवस्था थी। अत: कक्षा पाँचवी तथा आगे की पढ़ाई के लिये कोटा (राजस्थान) चले गये। दीनदयालजी कोटा में ''सेल्फ सपोर्टिंग हाउस'' में रहे। तीन साल कोटा में रहकर सातवीं तक शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात राजगढ़ (जिला अलवर, राजस्थान) में चचेरे मामा नारायण शुक्ल के यहाँ रहकर कक्षा आठवीं व नौवीं उत्तीर्ण की। चचेरे मामा का स्थानान्तरण सीकर हो गया। दीनदयाल जी ने सीकर आकर ''कल्याण

हाई स्कूल'' में प्रवेश लिया। कक्षा दसवीं में आपने प्रथम श्रेणी प्रथम स्थान प्राप्त किया।

फलस्वरूप दीनदयाल जी को सीकर के तत्कालीन महाराजा ने स्वर्ण पदक तथा 10 रुपये प्रतिमाह छात्रवृत्ति और पुस्तकों सहित अन्य खर्चों के लिये 250 रुपये पारितोषक के रूप में प्रदान किए।

इन्टरमीडियेट (कक्षा 11वीं व 12वीं) की पढ़ाई के लिये आपने सन् 1935 में बिरला कॉलेज पिलानी में प्रवेश लिया। यहाँ भी आपने सन् 1937 में इन्टरमीडियेट की परीक्षा में समस्त विषयों में विशेष योग्यता के साथ बोर्ड में प्रथम स्थान प्राप्त किया। घनश्यामदासजी बिड़ला ने भी सीकर महाराज के समान स्वर्ण पदक, 10 रुपये प्रतिमाह छात्रवृत्ति तथा एकमुश्त 250 रुपये पारितोषक पुस्तकों आदि हेतु सहर्ष दिए।

बी.ए. की पढ़ाई आपने सनातन धर्म कालेज कानपुर से पूरी की। एम.ए. की पढ़ाई के लिये आगरा आ गये। कानपुर के सनातन धर्म कालेज से सन् 1939 में दीनदयालजी ने प्रथम रेणी में बी.ए. की डिग्री प्राप्त की। एम.ए. के लिए आगरा के सेंट जॉन्स कालेज में प्रवेश लिया। इसी बीच मामाजी के आग्रह पर प्रशासनिक परीक्षा में बैठे, उत्तीर्ण हुए, साक्षात्कार में भी चुने गए। पर प्रशासनिक नौकरी में रूचि नहीं थी। अत: सन् 1941 मे बी.टी. करने प्रयाग (इलाहाबाद) चले गये। संगम नगरी प्रयाग से ही आपने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। जहॉ शिक्षा पूर्ण हुई वहीं से राष्ट्रसेवा हेतु समर्पित हो गये। 25 वर्ष की आयु पूर्ण होने तक आप उत्तर प्रदेश व राजस्थान के 10 से अधिक स्थानों पर रहे व शिक्षा प्राप्त की। जहाँ प्रकृति व नियति ने उनको प्रवास हेतु बाध्य किया, वहीं स्वयं उनकी प्रकृति, कार्य पद्धति व नीति निरन्तर प्रवास की बन गई। प्रवास से इतना प्रेम था कि मृत्यु का आलिंगन भी प्रवास करते ही किया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से सम्पर्क व अटूट सम्बन्ध

दीनदयाल जी का जन्म विराट कार्य करने के लिये हुआ था। नियति ने कठोर परिक्षाएं लीं, पर दीनदयालजी टूटे नहीं, झुके नहीं। निरन्तर अपनी प्रतिभा को निखारते चले गये, आगे बढ़ते रहे। ईश्वरीय कार्य सम्पन्न कराने के लिये नियति ने दीनदयालजी को संघ के सम्पर्क में ला दिया।

वैसे दीनदयालजी के मामा उनको बी.ए. करने हेतु आगरा भेजना चाहते थे, पर यह विधि का विधान ही था कि दीनदयालजी को कानपुर पसंद आया और वे बी.ए. की पढ़ाई के लिये इस्वी सन् 1937 में कानपुर आ गये। कानपुर के नवाबगंज में जहाँ दीनदयालजी रहते थे, वहीं शाखा लगती थी। यहीं से दीनदयालजी का राष्ट्रीयस्वयंसेवक संघ में प्रवेश हुआ। कहा जाता है कि सहपाठी बालूजी महाशब्दे के माध्यम से आप संघ के सम्पर्क में आये। स्वातंत्र्य वीर सावरकर जब कानपुर आये, तब दीनदयालजी ने शाखा में उनका बौद्धिक कार्यक्रम (उद्बोधन) कराया था। कानपुर में ही आपकी भेंट संघ के आद्य संघचालक डॉ. हेडगेवार जी से हुई।

दीनदयालजी संघ कार्य के निमित्त ही बने थे, अत: एक बार संघ के सम्पर्क में आने के बाद आप पूर्ण मनोयोग से संघ कार्य में जुट गये।

राष्ट्रीय स्वयंसेवकसंघ के विभिन्न प्रशिक्षण वर्गों में आपने शिक्षण प्राप्त किया। ''संघ शिक्षा वर्ग'' का प्रशिक्षण तीन वर्ष में पूर्ण होता है। आपने सन् 1939 में ''संघ शिक्षा वर्ग'' का 40 दिवसीय प्रथम वर्ष नागपुर में और द्वितीय वर्ष सन् 1942 में पूर्ण किया।

दीनदयालजी शारीरिक कार्यक्रमों को ठीक से नहीं कर पाते थे, पर बौद्धिक परीक्षा में प्रथम आये।

द्वितीय वर्ष का प्रशिक्षण प्राप्त करके दीनदयालजी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक बन गये और आजीवन प्रचारक रहे।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में ''प्रचारक'' सर्वाधिक महत्वपूर्ण इकाई है। यह बौद्ध भिक्षुओं व आद्य शंकराचार्य के युवा वैदिक सन्यासियों जैसी ही एक परंपरा है। संघ के प्रचारक साधारण वेश में रहते हैं। ये सामान्यत: अविवाहित अगृहस्थ होते हैं। कोई निजी व्यवसाय नहीं करते हैं। संघ कार्य के लिये अपना जीवनदान करते हैं।

सम्माननीय दादाराव परमार्थ, बाबा साहब आपरे एवं भाऊराव देवरस जैसी प्रचारक विभूतियों के सम्पर्क में आकर दीनदयालजी भी राष्ट्र सेवा हेतु जीवन समर्पित करके प्रचारक बन गये।

सन् 1942 में लखीमपुर जिले में जिला प्रचारक के रूप में आपकी नियुक्ति हुई। बाद में उनको लखीमपुर विभाग प्रचारक बना दिया गया। आपकी प्रतिभा व कार्य निष्ठा को देखते हुये सन् 1945 में उत्तरप्रदेश के सह-प्रान्त

प्रचारक के नाते पदोन्नत कर दिया गया। सन् 1951 तक के सह-प्रान्त प्रचारक रहे, उसके पश्चात् जनसंघ की स्थापना के साथ राजनीति में प्रवेश कर गये।

दीनदयालजी की प्रतिभा, बुद्धि और कर्त्तव्यनिष्ठा को उस समय के प्रान्त प्रचारक भाऊराव जी देवरस ने अग्रलिखित शटदों में व्यक्त किया है- ''संघ के प्रारंभिक गसंघ के उन प्रारंभिक दिनों में जब कार्य अत्यंब कंटकाकीर्ण था, उस समय तुम (श्री उपाध्याय) कार्य के लिए चल निकले। तब संघकार्य के विचारों को उत्तर प्रदेश में कोई जानता नहीं था। तुमने स्वयसेवक के नाते इस कार्य का जुआ अपने कंधे पर उठा लिया। उत्तर प्रदेश में संघकार्य की नीवं में तुम्ही हो आज का यह संघ का रूप तुम्हारे ही परिश्रम का, तुम्हारे ही कर्तव्य का फल हें अनेक संघ कार्यकर्त्ता तुम्हारे जीवन से प्रेरणा लेकर चल रहे है। अपने जीते जी तुम इसी मार्ग पर चलने का प्रत्येक को प्रोत्साहित करते रहे।... हे आदर्श स्वयंसेवक! संघ के संस्थापक के मुख से आदर्श स्वयंसेवक के गुणों पर भाषण सुना था, तुम उसके मूर्तिमंत प्रतीक थे। प्रखर बुद्धिमत्ता, असामान्य कर्तव्य, निरहंकार, नम्रता के आदर्श।

जनसंघ : स्थापना, विकास और विस्तार

सरदार वगभ भाई पटेल चाहते थे कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक काँग्रेस में आकर राजनीति में सक्रिय हों। अक्टूबर1949 में काँग्रेस कार्यकारिणी ने प्रस्ताव पारित करके स्वयंसेवकों को काँग्रेस के माध्यम से राजनीति में प्रवेश करने का रास्ता साफकर दिया परन्तु उस समय नेहरू विदेश यात्रा पर थे, वापस आते ही उन्होंने स्पष्टीकरण के नाम पर निर्णय बदलवा दिया।

काँग्रेस के दिग्गज नेता राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, डॉ. पट्टाभि सीतारमैया, श्री वेन्कटराम, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, श्री शंकरदेव और मध्यभारत के तत्कालीन गृहमंत्री द्वारका प्रसाद मिश्र आदि स्वयंसेवकों के काँग्रेस के माध्यम से राजनीति में प्रवेश के पक्षधर थे। पर अड़ियल नेहरू इसको अपनी सत्ता छिन जाने के डर के रूप में देख रहे थे।

राजर्षि टण्डन तथा डी.पी. मिश्र जैसे काँग्रेस के वरिष्ठ नेताओं का मानना था कि ''संघ का सांस्कृतिक दृष्टिकोण शास्त्रशुद्ध है। संघ के सदस्य सुशिक्षित व चरित्रवान लोग हैं। वे यदि काँग्रेस में आकर काम करने लगेंगे तो काँग्रेस तथा देश दोनों का कल्याण होगा।''

पर नेहरू जैसे लोग काँग्रेस के माध्यम से देश के सत्ता शिखर पर बने रहना चाहते थे। अत: काँग्रेस के आंतरिक लोकतंत्र की जगह अपनी जिद को मनवाने में सफल हो गए। स्वंयसेवकों का प्रवेश राजनीति में उस समय न हो सका।

सन् 1948 में गांधीजी की हत्या के बाद संघ को बदनाम करने के लिए संघ पर प्रतिबंध लगा दिया गया। संघ के कई वरिष्ठ स्वयंसेवको पर बिल्कुल वैसे ही अत्याचार किए गए जैसे सन् 1984 में सिक्खों पर किए गए हैं।

संघ पर प्रतिबंध लगने के बाद किसी भी राजनीतिक दल ने संघ के पक्ष में एक भी बात नहीं कही। संघ में सभी को इस से बहुत ठेस पहुंची। संघ को लगा यदि राजनीतिक नेता व दल उसके पक्ष में होते तो सरकार दबा न पाती। अत: संघ नेतृत्व ने मन बनाया कि हमें राजनीतिक दल बनाकर सरकार का सामना करना चाहिए।

इस संदर्भ में संघ के तत्कालीन सह सरकार्यवाह बालासाहब देवरस जी ने 'संघ का अगला कदम' शीर्षक से 'युगधर्म' पत्रिका में एक लेख लिखा। जिसको 'पाचजन्य' ने कार्तिक शुकल सम्वत् 2006 में पुन: प्रकाशित किया है। इसको हम जनसंघ की प्रस्तावना भी कह सकते है। देवरसजी लिखते है -

''अभी तक दैनिक कार्यक्रमों द्वारा उत्पन्न अनुशासन एवं त्याग के गुणों के प्रकटीकरण के क्षेत्र तक ही संघ मर्यादित रहा, किंतु अब इन गुणों का उपयोग समाज की विभिन्न समस्याओं को हल करने में भी होगा। आज जिस प्रकार से अनुभव यह आया कि संघ के स्वयंसेवकों में परस्पर एक-दूसरे के सुख-दुख में पूर्णतया समरस होने की भावना दिखाई देती है।: किंतु संघ के बाहर का समुदाय इन भावनाओं के अनभिज्ञ रहकर उनको अपने जीवन की विभिन्न समस्याओं को सुझलाने के लिए व्यवहृत करने में असमर्थ रहा, वह अवस्था अब समाप्त होगी और संघ समाज को साथ लेकर उसकी समस्याओं का अपनी नीति और आदर्शों के अनुसार निदान प्रस्तुत करने की योजना करेगा। भारतीय संस्कृति से परंपरागत प्राप्त चिरंतन एवं उपयोगी आदर्शों का वर्तमान युग की आवश्यकताओं के साथ यथोचित सामंजस्य स्थापित करते

हुए संघ अपनी समाजव्यवस्था की योजना प्रस्तुत करेगा और फिर तद्नुसार कार्यक्रम निर्धारित कर समाज की सर्वांगीण उन्नति में सहयोगी होगा।''

गअभी तक दैनिक कार्यक्रमों द्वारा उत्पन्नग संघ राजनीति में प्रवेश करे अथवा नहीं, विषय पर संघ में व्यापक बहस व चर्चा चल रही थी। दूसरी ओर तत्कालीन काँग्रेस व सरकार में भी भारत विभाजन से उपजी समस्याओं पर धमासान मचा हुआ था।

पाकिस्तान में हिन्दुओं पर हो रहे अत्याचार व अन्य परिस्थितियों को लेकर नेहरू सरकार में उद्योगमंत्री डॉ श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया। 8अप्रैल1950 को नेहरू और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत के बीच समझौता हुआ। जिसको 'नेहरू लियाकत पैक्ट' के नाम से जाना जाता है। इसके तहत पूर्वी पाकिस्तान से आए हिन्दु शरणर्थीयों को वापस जाना पड़ा। डॉ मुखर्जी का मानना था कि पाकिस्तान का धर्म आधरित राज्य होने के कारण वहां हिन्दु सुरक्षित नहीं है। पर नेहरू नहीं माने, और समझौता कर लिया। इस समझौते को पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं के साथ धोखा बताते हुए डॉ मुखर्जी ने अंततः त्याग पत्र दे दिया। डॉ. मुखर्जी के त्यागपत्र से भारतीयतावादी राजनीति करने वालों में उत्साह का संचार कर दिया।

इस तरह विभिन्न ओर से भारत निष्ठ राजनीतिक दल की स्थापना हेतु सरगर्मियां प्रारंभ हो गईं। पहले प्रांतशः दलों की स्थापना प्रारम्भ हुई। मई 1951 से अक्टूम्बर 1951 तक यह प्रक्रिया चली। पंडित दीनदयाल जी उपाध्याय को उत्तरप्रदेश इकाई का दायित्व दिया गया। 2सितंबर1951 को लखनऊ में उ.प्र. जनसंघ इकाई की स्थापना हुई। दीनदयाल जी को प्रदेशमंत्री बनाया गया। इससे पहले तक वे संघ के सह-प्रांत प्रचारक थे।

21 अक्टूबर 1951 को दिल्ली के राधोमल आर्य कन्या विद्यालय में डॉ श्यामा प्रसाद जी मुखर्जी की अध्यक्षता में सम्मेलन आयोजित करके अखिल भारतीय जनसंध की स्थापना हुई। भाई महावीर को महामंत्री नियुक्त किया गया।

भारतीय जनसंघ का प्रथम अभिवेशन नानाजी देशमुख के संयोजकत्व में दिनांक 29,30 व 31 दिसंबर1952 को कानपुर में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में दीनदयालजी अखिल भारतीय महामंत्री बनाए गए।

यहीं से दीनदयालजी की राजनीतिक क्षेत्र में यात्रा प्रारंभ हुई। दीनदयाल जी ने जनसंघ को संगठनात्मक वैचारिक और विस्तारात्मक नेतृत्व प्रदान किया।

दीनदयाल जी सन् 1952 से 1967 तक लगातार पंद्रह वर्ष जनसंघ के महामंत्री रहे। इस दौरान अनेक अध्यक्ष बदल गए पर वास्तविक कार्यपालक, संगठनात्मक नेतृत्व महामंत्री के रूप में दीनदयाल जी ने ही किया।

जनसंघ के प्रारम्भ में अध्यक्ष में पद पर कोई प्रसिद्ध व्यक्ति, वयोवृद्ध, संपन्न या वरिष्ठ नेता आसीन हुआ करता था। अतः महामंत्री का पद ही महत्वपूर्ण होता था।

जनसंघ में अध्यक्ष व महामंत्री की वही स्थिति थी, जो भारत सरकार में क्रमशः राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री की होती है।

इस तरह कहा जा सकता है कि जनसंघ का 1952 से 1967 तक जो विकास व विस्तार हुआ, वह दीनदयाल जी को ही देन है।

कानपुर अधिवेशन में डॉ. मुखर्जी ने दीनदयालजी की कार्यकुशलता, संगठन कौशल और वैचारिक स्पष्टता को नजदीक से देखा। इसी आधार पर डॉ मुखर्जी ने प्रसिद्ध वाक्य कहा- यदि मुझे दो-तीन दीनदयाल मिल जाएँ तो में भारतीय राजनीति का नक्शा बदल दूँ।

बाला साहब देवरस ने राजनीति हेतु उनके चयन पर विचार व्यक्त करते हुए कहा - गमैं समझता हूँ श्री गुरूजी को इस क्षेत्र के लिए ऐसे व्यक्ति की जरूरत थी, (1) जो मूल भारतीय कल्पना के अनुसार राजनीतिक सिद्धांतों पर विचार कर सके। (2) राजनीतिक क्षेत्र में जाने के बावजूद वैयक्तिक महात्वाकांक्षाओं से मुक्त रहे सके तथा (3) कार्यकताओं की अच्छी टीम खड़ी कर सके।

दीनदयाल जी में ये तीनों ही गुण थे। इसलिए गुरूजी ने उनको राजनीतिक क्षेत्र के लिए चुना होगा, ऐसा मुझे लगता हैग

तत्कालीन परम पूज्य सर संघसंचालक माधवराव सदाशिव गोलवलकर को लगभग सभी लोग आदर व प्रेम से गुरूजी पुकारते थे। गुरूजी की आज्ञा से ही दीनदयाल जी ने राजनीति में प्रवेश किया था।

गुरूजी तथा डॉ. मुखर्जी की वार्त्ता के अनुसार संघ की शक्ति एवं अन्य

हिन्दू राष्ट्रवादी संगठनों को साथ लेकर डॉ. मुखर्जी के नेतृत्व में जनसंघ को विकसित करने की योजना बनी। पर जनसंघ की स्थापना के 21 महीने बाद ही 'कश्मीर आंदोलन' के तहत् श्रीनगर की जेल में संदिग्ध परिस्थिति में डॉ. मुखर्जी की मृत्यु हो गई। अत: जनसंघ की पूरी जिम्मेदारी दीनदयाल जी पर आ गई।

जनसंघ के शैशव काल अर्थात् प्रारंभिक वर्षों में अधिवेशन, आंदोलन अभ्यास वर्ग तथा प्रस्ताव आदि सब कुछ पर पंडित दीनदयाल जी उपाध्याय का गहन प्रभाव था। सन् 1957, 1962 तथा 1967 के लोक सभा आम चुनावों में जनसंघ की निरंतर प्रगति हुई। प्रत्येक चुनाव में वोट प्रतिशत तथा सीटों की संख्या में बढ़ौत्री हुई।

जहाँ एक ओर चुनावों में जनसंघ धीरे-धीरे अपनी धाक जमा रहा था, वहीं दूसरी ओर दीनदयालजी संगठन को मजबूत बनाने के साथ-साथ वैचारिक रूप से भी सुदृढ़ कर रहे थे।

संगठन की दृष्टि से सन् 1957 में जनसंघ की 243 मण्डल समितियाँ व 889 स्थानीय समितियाँ गठित हो गई थीं। सदस्य संख्या 74,863 थी। संगठन के विस्तार के लिए दीनदयाल जी तथा उनके सहयोगी निरंतर देशव्यापी यात्राएँ करके कार्यकर्ताओं से सीधे सम्पर्क करते थे। यातायात तथा संचार के साधन सीमित थे पर उत्साह व ऊर्जा अनंत थी।

दूसरी ओर जनसंघ को वैचारिक सुदृढ़ता व स्पष्टता प्रदान करने के लिए दीनदयाल जी सतत् कार्यशील थे। कानपुर के प्रथम अधिवेशन में ही दीनदयाल जी ने निम्न विषयों पर विस्तृत प्रस्ताव प्रस्तुत किए,

1. सांस्कृतिक पुनरूत्थान
2. चुनाव नियमों में संशोधन
3. दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद का विरोध
4. भारत में स्थित विदेशी उपनिवेश
5. कर नीति तथा बहुसूत्री बिक्रीकर
6. पुनर्वास तथा
7. पंचवर्षीय योजना

इन प्रस्तावों की विषय-वस्तु देखकर ही दीनदयाल जी की बहुमुखी प्रतिभा, समग्रता से चिंतन तथा व्यापक राजनीतिक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।

11 से 15 अगस्त 1964 में ग्वालियर में जनसंघ की प्रतिनिधि सभा का ऐतिहासिक प्रशिक्षण शिविर सम्पन्न हुआ। दीनदयाल जी ने इसी कार्यक्रम में 'सिद्धांत और नीति' नामक प्रलेख प्रस्तुत किया। जिसको इसी शिविर में अंतिम रूप दिया गया। इसी प्रलेख में 'एकात्म मानव दर्शन' का विचार जनसंघ का अधिकाधिक दर्शन बना। जिसका विस्तार आगे चलकर दीनदयाल जी ने किया। ग्वालियर की 'रामनारायण धर्मशाला' को इसी के फलस्वरूप 'एकात्म मानव दर्शन' की बीजभूमि माना जाता है। सर्वप्रथम यहीं 'एकात्म मानव दर्शन' का प्रारंभिक उद्बोधन दिया था। 23 व 24 जनवरी 1965 को विजयवाड़ा में जनसंघ का अधिवेशन आयोजित किया गया। अधिवेशन में 'एकात्म मानव दर्शन' को जनसंघ का आधिकाधिक दर्शन स्वीकार किया गया।

दीनदयाल जी का प्रत्येक मामले में दृष्टिकोण बहुत व्यापक था। राजनीतिक पार्टी के दर्शन के रूप में भारतीय चिंतन एवं ऐतिहासिक धरोहर वेद, उपनिषद् व गीता आदि से निस्तृत सार को ही 'एकात्म मानव दर्शन' के नाम से प्रस्तुत किया। जिसमें मानव कल्याण से लेकर सृष्टि व परमेष्ठी का भी समावेश है।'एकात्म मानव दर्शन' पर हम अलग से आगे एक अध्याय में चर्चा करेंगे।

दीनदयालजी के राष्ट्रव्यापी दृष्टिकोण व चितंन का प्रतिबिंब उनके द्वारा जनसंघ के अधिवेशन स्थल हेतु चुने जाने वाले स्थानों से लगा सकते है। जहां एक ओर उत्तर में कानपुर व काशी, मध्य में नागपुर, उत्तर पश्चिम में जालधंर तो दक्षिण में बैगलूरू, विजयवाड़ा, तथा कालीकट आदि। अधिवेशन हेतु राष्ट्र के सुदूर स्थानों के चयन में उनका विचार था कि ऐसा करने से कार्यकर्ताओं की अखिल भारतीय दृष्टि उत्पन्न होगी।

दीनदयालजी कार्यकर्त्ता निर्माण के लिए स्वयं के आचरण से सीखाने का कार्य करते थे। जनसंघ को गरिमामय, सुसंस्कृत, अनुशासित व लोकतांत्रिक संगठन बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। जनसंघ महामंत्री के रूप में आपने पन्द्रह वर्ष (1952 से 1967) के कार्याकाल में जनसंघ को शून्य से शिखर की ओर

अग्रेषित कर दिया।

संघ व जनसंघ के लगभग सभी नेता व स्वयंसेवक दीनदयालजी की कार्यक्षमता, नेतृत्व कौशल तथा सद्व्यवहार से प्रभावित थे। आपकी त्याग-तपस्या अद्वितीय थी। गीता में उगेखित सात्विक कार्यकर्ता के समस्त गुण दीनदयाल जी में अथाह भरे थे।

सन् 1967 (29 से 31 दिसम्बर) को कालीकट में जनसंघ का ऐतिहासिक 14वाँ अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में सभी कार्यकर्ताओं व नेताओं के निवेदन व आग्रह पर अध्यक्ष बनना स्वीकार किया। श्री अटल बिहारी बाजपेयी बताते है कि बड़ी मुश्किल से दीनदयाल जी को अध्यक्ष पद स्वीकार करने के लिए सहमत कर पाए थे।

सन् 1967 तक जनसंघ व दीनदयाल जी दोनों ही अपने जीवन की प्रतिष्ठा व प्रभाव के शिखर पर थे। जनसंघ देश में सत्तादल के बाद दूसरे क्रमांक का राजनीतिक दल बन गया था। दीनदयाल जी के संगठन कौशल, चारित्रिक शुचिता और कार्यक्षमता की चर्चा राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रव्यापी बन गई थी।

कालीकट में जनसंघ अध्यक्ष निर्वाचित होने पर कार्यकर्ताओं में अपार उत्साह था। बताया जाता है कि कालीकट की सड़कें फूलों से पट गई थीं। परन्तु मन समझाने को कहें कि नियति को बस इतना ही स्वीकार था या कहे कि राजनीतिक षड़्यंत्रकारी सफल हो गए अपने कुत्सित मंसूबों को पूरा करने में।

अध्यक्ष बनने के 43 दिन बाद 11 फरवरी 1968 को दीनदयाल जी की असमय मृत्यु हो गई।

दीनदयाल जी 10 फरवरी 1968 को लखनऊ से पटना जाने के लिए 'पठानकोट- स्यालदाह एक्सप्रेस' से रवाना हुए। पर पटना पहुंचने से पहले ही आप की रहस्यमय मृत्यु हो गई।

मुगलसराय स्टेशन पर आपका शव संदिग्ध परिस्थितियों में रेल पटरियों के नजदीक पाया गया।

रहस्यमय मौत, अनसुलझे प्रश्न

भरी दोपहर में सूरज डूब जाने जैसी घटना थी दीनदयालजी की मृत्यु। जनसंघ और दीनदयाल जी दोनों संघर्षें के बीहड़ से निकलकर तेज गति पकड़ने के लिए राजमार्ग पर आए थे ही और यह दुर्घटना हो गई। घटना क्रम कुछ यूं हुआ-

भारतीय जनसंघ बिहार प्रदेश कार्यकारिणी की बैठक 11 फरवरी 1968 को पटना में आयोजित की गई थी। इसी बैठक में सम्मिलित होने के लिए दीनदयाल जी लखनऊ से रेलमार्ग द्वारा पटना जाने के लिए 'पठानकोट-स्याहदाह एक्सप्रेस' से सायं 7 बजे रवाना हुए। लखनऊ स्टेशन पर उनको विदा करने आए लोगों में उत्तरप्रदेश के तत्कालीन उपमुख्यमंत्री श्री रामप्रकाश जी गुप्त तथा पीताम्बरदास जी प्रमुख थे। सभी से आत्मीयता तथा प्रेम से विदा लेकर दीनदयाल जी ट्रेन के 'बी' कम्पार्टमेंट में आकर बैठ गए। रात्रि लगभग 12 बजे जौनपुरस्टेशन पर जौनपुर के राजा साहब के निजी सचिव श्री कन्हैया दीनदयालजी से मिलने आए। उन्होंने राजा साहब का पत्र दीनदयाल जी को सौंपा। दीनदयाल जी ने कहा- 'शीघ्र ही पत्र का उत्तर दूँगा।' गाड़ी जौनपुर स्टेशन से 12 बजकर 12 मि. पर आगे के लिए चल दी।

यह टेऊन सीधे पटना नहीं जाती थी अत: मुगलसराय स्टेशन पर उनकी बोगी 'दिल्ली हावड़ा एक्सप्रेस' में जोड़ दी गई। यह मुगलसराय स्टेशन पर बोगी 12:15 बजे आई और 2:50 बजे रवाना हुई।

इसके लगभग पौन घंटे बाद मुगलसराय स्टेशन के लीवरमैन ने टेलीफोन पर स्टेशन मास्टर को सूचना दी कि एक लाश पड़ी हुई है। पुलिस आई, डॉक्टर आए। डॉक्टर ने मृत घोषित कर दिया। पुलिस ने अपनी कार्यवाही करते हुए फोटो आदि खींचे। चूंकि उस शव को कोई पहचान नहीं पा रहा था अत: लावारिश घोषित कर दिया। और लगभग छ: घंटे बाद शव को प्लेटफार्म पर लाकर रख दिया। कौतुहल में कोलाहल मच गया। भीड़ लग गई।

भीड़ में उपस्थित जनसंघ का एक कार्यकर्ता चिगाया- 'अरे यह तो जनसंघ अध्यक्ष पंडित दीनदयाल उपाध्याय हैं, हमारे दीनदयाल जी हैं।'

कार्यकर्ता के इतना कहते ही पल भर में समाचार जनता में फैल गया। स्थानीय जनसंघ कार्यकर्ता एकत्रित होना आरंभ हो गए। विभिन्न जगह फोन द्वारा सूचनाएं भेजी जाने लगीं। प. पूज्य गुरूजी को भी दुखद समाचार फोन द्वारा दिया गया। दिल्ली में जनसंघ के संसदीय दल की बैठक चल रही थी, उसको स्थगित करके सभी भागदौड़ में लग गए।

अंतिम दर्शन, अंतिम यात्रा, अंतिम संस्कार

दीनदयालजी के शव को अंतिम क्रियाकर्म के लिए वायुसेना के विमान से नई दिल्ली लाया गया। अटल जी के निवास स्थान 30, राजेन्द्र प्रसाद मार्ग पर जनता को अंतिम दर्शन करने के लिए पुष्पों से सजी शैय्या पर दीनदयालजी के मृत शरीर को रखा गया। भावाकुल, शोकाकुल जनता, कार्यकर्ता तथा अनेकों नेता उनके अंतिम दर्शन तथा श्रद्धाजंलि अर्पित करने आए।

तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. जाकिर हुसैन, प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी तथा उपप्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई सहित अनेको मंत्री, सांसद, गणमान्य पुरुष महिलाओं सहित जन समुदाय ने पुष्पांजलि व श्रद्धाजंलि अर्पित की।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंचालक श्री गुरूजी ने कहा – 'बहुत से लोग अपने परिवार चलाते हैं। अत: वे उसकी कल्पना कर सकते हैं। मैं परिवार नहीं चलाता, इसलिए मेरी जो दुख की भावना है। वह शतगुणित (सौ गुना) अधिक है, इसलिए उनके व्यक्तिश: संबंध में कुछ नहीं कहूँगा। इतना ही कहूँगा कि दीनदयाल को ईश्वर ने ले लिया। एक पुरानी कहावत अँग्रेजी में मैंने पढ़ी हैं गजिन्हे देवता प्रेम करते हैं, वे कम उम्र में स्वर्ग सिधारते हैं।ग

यात्राप्रेमी थे दीनदयाल जी। सतत् यात्राओं के माध्यम से कार्यकताओं से जीवंत संपर्क उनकी कार्यशैली का अंग था। बचपन भी स्थान बदलते बीता। मृत्यु भी यात्रा करते में आई। लेकिन अब उनके पार्थिव शरीर की अंतिम यात्रा की तैयारी नई दिल्ली के 30, राजेन्द्र प्रसाद मार्ग पर हो रहीं थी। शवयात्रा 1 बजे प्रारम्भ हुई और लगभग छ: बजे निगम बोध घाट पर समाप्त हुई। इसके बीच में उनकी अंतिम यात्रा में नई दिल्ली के अनेकों स्थानों पर विभिन्न संस्थाओं और जन समुदायों द्वारा श्रंद्धाजलि समर्पित की गई। ऐसा लग रहा था मानो पूरा भारत दिल्ली में उमड़ पड़ा हो।

अनेकोनेक वरिष्ठ संघ अधिकारियो एवं नेताओं की उपस्थिति में निगम बोध घाट पर उनकी चिता को श्री प्रभुदयाल शुक्ल (दीनदयाल जी के ममेरे भाई) ने 7 बजकर 6 मि. पर मुखाग्नि प्र%वलित कर दी। महामानव का शरीर अंततोगत्वा पंचतत्व में विलीन हो गया।

दीनदयालजी का पार्थिव शरीर अग्नि में भस्म होकर पंचतत्व में समा गया पर उनके विचार लाखों करोड़ों कार्यकर्त्ताओं के मनोमस्तिष्क में आज भी समाए हैं। और आने वाली पीढियों का भी मार्गदर्शन करेंगे। विश्वशांति और अंतिम पंक्ति के अंतिम व्यक्ति के कल्याण तक उनके विचार कार्यकताओं का मार्ग प्रशस्त करते रहेंगे। उनकी स्मृति प्रेरणा के रूप में सदैव प्रदीप्त रहेगी।

साहित्य सृजन एवं लेखन

पंडित दीनदयाल जी एक ओर पढ़ने के शौकीन थे तो दूसरी ओर लिखने में भी उनकी गहरी रूचि थी। अपनी यात्राओं में वे पुस्तकें लेकर चलते थे। बल्कि रेलयात्रा करने के पीछे भी यही उद्देश्य बताते थे कि पढ़ने की अनुकूल परिस्थिति तथा समय मिल जाता है।

उनकी अध्ययनशफलता एवं स्मृति का ही कमाल था कि उन्होंने 16 घंटे में 'सम्राट चन्द्रगुप्त' नामक बाल उपन्यास लिख दिया था। इस कृति के संबंध में पंडित दीनदयाल जी उपाध्याय पर गहन शोध व गंभीर लेखन करने वाले राजनेता डॉ महेशचंद्र शर्मा लिखते हैं:–

'सम्राट चन्द्रगुप्त विशिष्ट विचारधारा से आप्लावित एक किशोरोपयोगी ऐतिहासिक उपन्यास विधा में रचित उत्तम साहित्यिक कृति है। यदि दीनदयाल उपाध्याय ने उसे एक बैठक में लिख डाला तो यह उनकी विलक्षण साहित्यिक व बौद्धिक क्षमता का परिचायक है। बिना संदर्भ ग्रंथों की सहायता लिए ऐसी कृति की रचना उनकी अध्ययन प्रवणता पर प्रकाश डालता है तथा स्मरणशक्ति के वैशिष्ट्य को प्रकट भी करता है।'

इन विचारों से स्पष्ट लगता है यदि दीनदयाल जी ने लेखन का क्षेत्र चुना होता तो सर्वोत्तम लेखकों में विशिष्ट नाम होता।

दीनदयाल जी ने दूसरी कृति 'जगद्गुरू शंकराचार्य' पर तैयार की। छोटी सी आयु में सन्यास लेकर आद्य शंकराचार्य ने अखिल भारत में वैदिक धर्म की पताका फ्हराने का कार्य किया था। यातायात के साधन न होने बात भी शंकराचार्य ने भारतवर्ष की चारों दिशाओं में चार धामों की स्थापना की। सुदूर दक्षिण केरल के कलाड़ी में जन्म लिया। और भारत के उत्तर में लगभग अंतिम छोर केदारनाथ में 32 वर्ष की अल्पआयु में प्राण त्याग दिए। भारत में पुन: सांस्कृतिक जागरण का पुनीत कार्य आद्य शंकराचार्य ने सम्पन्न किया।

पंडित दीनदयाल ने साहित्यिक रूप से इन्हीं दोनों कृतियों का सृजन क्रमश: सन् 1946 व 1947 में किया। इसके बाद संगठन की विभिन्न पत्र–

पत्रिकाओं में लिखते रहे पर साहित्य सृजन या पुस्तक नहीं लिखी। उनका स्वयं का जीवन तथा जिन कार्यकताओं का वे निर्माण करना चाहते थे उनके लिए, यह दोनों पुस्तकें प्रेरणा हेतु पर्याप्त थीं।

दीनदयाल जी स्वयं तो चन्द्रगुप्त नहीं थे पर चाणक्य की भूमिका में अवश्य थे। श्री अटल बिहारी वाजपेयी उनके द्वारा ही पुष्पित तथा पगवित थे, कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी। दीनदयाल जी का जीवन सादा वस्त्रो में शंकराचार्य की वैदिक सन्यासियों की परंपरा सा ही था। और वे आद्य शंकराचार्य के जीवन चरित्र से ही स्वयंसेवक व कार्यकर्ताओं को प्रेरित करना चाहते थे।

दीनदयालजी संघ कार्य के लिए ही बने थे अत: अपनी समस्त प्रतिभा, कार्यक्षमता, शक्ति व ऊर्जा संघ कार्य के विकास व विस्तार में लगाते थे। साहित्य सृजन करके या अपने नाम से पुस्तकों का निर्माण करके ख्यातनाम नहीं बनना था। बल्कि कार्यकर्ता निर्माण करके संघ विस्तार करना उद्देश्य था। अत: कार्यकर्ताओं को सतत् प्रबोधन के लिए अपने भाऊराव जी देवरस (तत्कालीन उत्तर प्रदेश के प्रांत प्रचारक, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ) की प्रेरणा से लखनऊ में 'राष्ट्रधर्म प्रकाशन' की नींव रखी। इस संस्थान के माध्यम से मासिक 'राष्ट्रधर्म', साप्ताहिक 'पाञ्चजन्य' तथा दैनिक 'स्वदेश' का प्रकाशन क्रमश: प्रारम्भ हुआ। जो आज भी निरन्तर प्रकाशित हो रहे है, 'पाञ्चजन्य' दिल्ली से तथा 'स्वदेश' विभिन्न स्थानों से।

महात्मा गाँधी की हत्या के बाद संघ पर प्रतिबंध लगाया गया। राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत 'पाञ्चजन्य' पर भी सत्ता ने कुठाराघात किया, प्रतिबंध लगा दिया। पर पंडित जी कहां मानने वाले थे, 'हिमालय' नाम से पत्रिका निकालने लगे, उस पर भी प्रतिबंध लगा तो 'राष्ट्र भक्त' निकालने लगे। दीनदयाल जी की लेखनी रूकी नहीं, डरी नहीं, सतत् राष्ट्रहित में मानव कल्याण हेतु चलते रही, वे निरन्तर लिखते रहे। संगठन के अँग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाइजर' में आप 'पोलिटिकल डायरी' नामक स्तंभ के अंतर्गत सम-सामयिक राजनैतिक, आर्थिक, संसदीय जनतंत्र, विदेशनीति, भाषा तथा जनसंघ के विभिन्न विषयों पर विवेचनात्मक लेख लिखते थे। उनके निधन के बाद 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय स्मारक समिति' ने 'पोलिटिकल डायरी' नाम से ही लेखों को संकलित करके पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया है। नानाजी देशमुख के प्रयास के फलस्वरूप 'पोलिटिकल डायरी' पुस्तक की प्रस्तावना काँग्रेस के वरिष्ट व प्रसिद्ध नेता डॉ. सम्पूर्णानन्द (कुलाधिपति, काशी विद्यापीठ) ने लिखी है।

संघ के प. पूज्य आद्य सरसंघचालक डॉ. हेडगेवार का जीवन चरित मराठी भाषा में श्री नारायणहरि पालकर ने लिखा है। जिसको दीदयालजी ने सरल व सहज भाषा शैली में हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी पाठकों को उपलब्ध करवा दिया। जनसंघ के नेताओं व कार्यकर्ताओं ने दीनदयाल जी के मार्गदर्शन में 'टू प्लान्स', 'परफारमेंस एंड प्रोस्पेक्टस', अखण्ड भारत क्यों?, राष्ट्र चिन्तन, राष्ट्र जीवन की दिशा तथा 'भारतीय अर्थनीति की एक दिशा' नामक पुस्तकें तैयार की जो जनसंघ की रीति-नीति व विचारों का प्रकटीकरण करती हैं। इन पुस्तकों में दीनदयाल जी के विभिन्न विषयों पर लेख व भाषण भी संकलित किए गए हैं।

दीनदयाल जी प्रकांड पंडित थे, अनेकों विषयों के ज्ञाता थे, अनेकों पुस्तकों व ग्रंथों का आपने गहन अध्ययन किया था। परन्तु आपका साहित्य सृजन व लेखन संगठन केन्द्रित था। जो कार्य अपने हाथ में है उसकी वृद्धि कैसे हो, संगठन को वैचारिक सबलता कैसे मिले, कार्यकर्ताओं का प्रबोधन कैसे हो और संगठन का नीति निर्देशक दर्शन कैसा हो, यही सब पर आधारित है दीनदयाल जी का लेखन।

दीनदयाल जी के नेतृत्व में जनसंघ का विस्तार

सन् 1951 में जनसंघ की स्थापना के लगभग एक वर्ष बाद ही संगठन महामंत्री का दायित्व दीनदयाल जी पर आ गया था। सन् 1952 से 1967 तक 15 वर्षों के कार्यकाल में दीनदयालजी ने जनसंघ के लिए वही किया जो मनुष्य अपने जन्म से 16 वर्ष की आयु तक करता है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक तथा शैक्षणिक विकास मनुष्य का प्रारंभ के 16 वर्ष में ही सर्वाधिक होता है। उसी तरह जनसंघ का संगठन, वैचारिक तथा कार्यकर्ता प्रशिक्षण प्रारंभ के 16 वर्ष में दीनदयाल जी ने कुशलता पूर्वक किया।

जनसंघ अध्यक्ष के रूप में आप मात्र 43 दिन रहे और मृत्यु के आगोश में समा गए। तत्पश्चात् नेतृत्व अटल जी के हाथ आ गया जिसकी परिणति भारत सरकार के प्रधानमंत्री तक पहुँची और आज का भव्य दृश्य

हमारी आँखों के सामने है। श्री नरेन्द्र मोदी जी के नेतृत्व में पूर्ण बहुमत भाजपा की सरकार ने 26 मई 2014 को शपथ ली है।

भारत की पहली गैर-कॉंग्रेसी एक दलीय पूर्ण बहुमत की सरकार श्री नरेन्द्र मोदीजी के नेतृत्व में बनी है। इसकी नींव व संरचना (Foundation & Structure) दीनदयालजी ने जनसंघ के रूप में तैयार की है। जो बीज दीनदयाल जी ने रोपा था, प्रारंभिक देखरेख की थी वही आज भाजपा के रूप में विशाल वृक्ष बन गया है।

जनसंघ की प्रारंभिक विकास यात्रा आँकड़ों में

1. आम चुनाव 1951

- कुल सीट लड़े	-	94
- सीट जीते	-	03
- प्राप्त वोट प्रतिशत	-	3.05

- जीती गई सीटों का विवरण

1. राजस्थान -

चित्तौड़ - श्री उमांशकर

2. प. बंगाल -

(1) मिदनापुर झारग्राम - श्री दुर्गा चरण बंदोपाध्याय

(2) कलकत्ता - श्री श्याम प्रसाद मुखर्जी (दक्षिण पूर्व)

2. द्वितीय आम चुनाव 1951

- कुल सीट लड़े	-	130
- सीट जीते	-	04
- प्राप्त वोट प्रतिशत	-	5.97

- जीती सीटों का विवरण

बम्बई प्रांत

1. धूलिया - श्री उत्तम राव लक्ष्मण पाटिल
2. रत्नागिरी - श्री प्रेमजी भाई रणछोड़दास असर

उत्तर प्रदेश

3. बलरामपुर श्री अटल बिहारी बाजपेयी
4. हरदोई - श्री शैओदीन

3. तृतीय आम चुनाव 1962

- कुल सीट लड़े	-	196
- सीट जीते	-	14
- प्राप्त वोट प्रतिशत	-	6.44

- राज्यवार सीटें

मध्यप्रदेश	-	3
पंजाब	-	3
राजस्थान	-	1
उत्तर प्रदेश	-	7
कुल	-	14

4. चतुर्थ आम चुनाव 1967

(तथा दीनदयाल जी का अंतिम चुनाव)

- कुल सीट लड़े	-	249
- सीट जीते	-	35
- प्राप्त वोट प्रतिशत	-	9.31

- राज्यवार जीती सीटें

बिहार	-	1
हरियाणा	-	1
मध्यप्रदेश	-	10
पंजाब	-	1
राजस्थान	-	3
उत्तरप्रदेश	-	12
चंडीगढ़	-	1
दिल्ली	-	6
कुल		35

इन चुनावों में दीनदयाल जी के नेतृत्व में जनसंघ इंदिरा नेतृत्व वाली कॉंग्रेस के लिए सबसे बड़ी चुनौती के रूप में उभरा। प्राप्त वोट प्रतिशत के आधार पर जनसंघ देश की दूसरे नंबर की पार्टी बन गई थी। यह आम चुनाव 17 से 21 फरवरी 1967 में सम्पन्न हुए और इन चुनावों के एक वर्ष बाद 11

फरवरी 1968 को दीनदयाल जी रेल पटरियों के निकट मृत पाए गए।

एकात्म मानव दर्शन

पंडित दीनदयाल जी एक कुशल संगठन होने के साथ-साथ निपुण विचारक व चिंतक भी थे। वैसे तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक के नाते राजनीति में आए थे, अत: दीनदयाल जी सहित समस्त प्रचारक व स्चयंसेवक कार्यकर्ताओं में वैचारिक स्पष्टता थी।

परन्तु राजनीतिक पार्टी के नाते जनसंघ की वैचारिक स्पष्टता के लिए पार्टी के अंदर चिंतन-मनन-मंथन हो रहा था। डॉ. मुखर्जी का निधन जनसंघ की शैशव अवस्था अर्थात जनसंघ की स्थापना के लगभग 21 महीने बाद ही हो गया था, अत: पार्टी की मार्गदर्शक विचारधारा स्पष्ट करने का भार दीनदयाल जी पर आ गया।

जनसंघ व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वरिष्टजनों से गहन विचार-विमर्श के बाद पंडित दीनदयाल जी ने ग्वालियर में 11 से 15 अगस्त 1964 को भारतीय जनसंघ के प्रशिक्षण शिविर में 'सिद्धांत और नीति' प्रलेख प्रस्तुत किया। जिसमें जनसंघ की विचारधारा को 'एकात्म मानववाद' नाम से संबोधित किया गया। विजयवाड़ा में 23-24 जनवरी 1965 को जनसंघ के पूर्ण अधिवेशन में विस्तृत रूप से दर्शन प्रस्तुत किया। श्री लालकृष्ण अडवाणी ने अपनी आत्मकथा 'मेरा देश - मेरा जीवन' में लिखा है कि वे दोनों जगह उपस्थित थे, आज वे इस महान धरोहर के जीवित प्रमाण हैं।

इसके बाद जनसंघ बंबई द्वारा 22-25 अप्रैल 1965 को दीनदयाल जी की चार दिवसीय भाषणमाला आयोजित की गई।

इन्ही व्याख्यानों को संकलित करके 'एकात्म मानववाद' नाम से पुस्तक प्रकाशित की गई है। इस चार अध्याय की पुस्तक मे दीनदयाल जी के विस्तार तथा विवेचन पूर्ण भाषणों का संकलन है जो विचार-दर्शन का विराट दर्शन कराते हैं।

नामकरण

'एकात्म' भारतीय संस्कृति का मूल विचार है। सनातन चिंतन में आत्मा व परमात्मा में भेद नहीं माना गया है। परमात्मा का अंश ही आत्मा है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' 'मैं ही ब्रह्मा हूँ' का उद्घोष सिद्ध करता है कि आत्मा का विस्तार ब्रह्म तक पहुंचता है। ब्रह्म भी एक आत्मा में समाया है। अर्थात समस्त सृष्टि एकात्म है। अत: भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत तथा प्रेरित है, इसलिए दीनदयाल जी का विचार 'एकात्म दर्शन है। लेकिन वह मानव के लिए है। अत: 'एकात्म मानव दर्शन' है। अपने आप मे पूर्ण चिन्तन है, अत: इसमे हमारे धर्म या दर्शन शब्द का उपयोग किया जाना चाहिए था। 'वाद' शब्द के उपयोग पर माननीय दत्तोपंत ठेंगड़ी ने अपने प्रसिद्ध भाषण 'एकात्म मानव वाद: एक अध्ययन' मे कहा है - गइसका नाम वाद या 'इज्म' क्यों रखा गया? वैसे पंडितजी स्वयं, 'वाद' पक्षपाती कभी नहीं थे। उनका मत था जो सत्य और सनातन है वह न तो 'वाद' के चौखटे में ठीक बैठेगा और न बदलती हुई परिस्थितियों का मुकाबला कर सकेगा।ग गकिंतु आज कुछ लोगों की आकलन की शक्ति की भी एक सुनिश्चित पद्धति बन गई है, और वह पद्धति 'वाद' अथवा 'इज्म' की हे। अत: सर्वसाधारण की सुविधा के लिए ही 'वाद' अथवा 'इज्म' की है। अत: सर्वसाधारण की सुविधा के लिए ही 'वाद' अथवा 'इ%म' शब्द का प्रयोग पंडितजी ने किया।

हालाँकि अब इस दर्शन का कई विद्वानों तथा शोधकर्ताओं ने विस्तार किया है। विस्तृत व विस्तार से इस विषय पर लिखा है। कई विद्यार्थियों ने पी.एच.डी. में 'एकात्म मानव वाद' पर शोध किया है और कर रहे हैं। पंडित दीनदयाल जी ने वेद, उपनिषद, पुराण और अन्य धर्म व दर्शन शास्त्रों का सार वर्तमान काल व परिस्थिति के अनुरूप दर्शन प्रस्तुत किया, उसका नाम है 'एकात्म मानव दर्शन'।

मानवीय व्यवस्था के संचालन के लिए सांसार में भांति-भांति की व्यवस्थाओं पर जो विचार प्रस्तुत किए गए, अमूमन उनकों 'वाद' कहा जाता है, जैसे साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद आदि इसलिए प्रारम्भ में इसको भी 'एकात्म मानववाद' कहा गया। परन्तु अन्य समस्त 'वाद' मनुष्य के लिए आवश्यक आर्थिक व शारीरिक जरूरतों तक सीमित थे। जबकि दीनदयाल जी का चिन्तन मनुष्य के समस्त पहेलुओं से लेकर समष्टि तक समग्रता लिए हुए हैं अत: 'वाद' की जगह 'दर्शन शब्द ही सर्व-स्वीकार्य है।

भारतीय संस्कृति में समग्रता और एकात्मता ये दो गुण विशेष है।

किसी भी विषय का चिन्तन समग्रता से किया जाता है। और समस्त सृष्टि एकात्म है, एक ही ऊर्जा से संचालित है, 'अहम् ब्रह्मास्मि' 'मैं ही ब्रह्म हूँ' का उद्घोष हमारे समस्त वेद, उपनिषद, पुराण और अन्य धर्म व दर्शनशास्त्रों का सार है।

एकात्म मानव दर्शन भी अहम् अर्थात मैं अर्थात मानव से प्रारम्भ होकर परिवार, समुदाय, राष्ट्र, मानवता, विश्व और परमेष्ठी (ब्रह्मांड) तक अखंड मंडलाकार रचना मे पहुंचता है। सृष्टि मे सभी चराचर (समस्त प्राणी तथा प्रकृति की रचनाएं) परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं। तथा सभी में आपसी संबंध जैसा हैं। जैसा कि विज्ञान भी 'न्यूटन के गुरूत्वाकर्षण नियम (LAW OF GRAVITAION) के अनुसार मानता है कि ब्रह्मांड का प्रत्येक कण (पिण्ड) दूसरे प्रत्येक कण को अपनी ओर आकर्षित करता है। इसके लिए विज्ञान मे सूत्र विकसित किए गए हैं। लेकिन यह लिखने में हमारा उद्देश्य मात्र इतना है कि संसार मे सभी परस्पर संबंधित हैं, ऐसा विचार विज्ञान सम्मत है।

मनुष्य की संरचना व पाश्चात्य विचार

हम शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा से मिलकर बनते हैं। कठोपनिष्द् मे इसी संरचना को इस प्रकार व्यक्त किया है- (1.3.3 श्लोक)

शरीर रथ है और आत्मा इस रथ की सवारी व स्वामी है। मन लगाम है। इन्द्रिय घोड़े हैं। और बुद्धि रथ संचालक सारथी है।

दीनदयाल जी कहते हैं कि पश्चिम मे जो समस्याएं पैदा हुई हैं, इनका कारण यह है कि उन्होंने मनुष्य के एक-एक हिस्से का विचार किया।

पर हमारे सनातन चिंतन में मनुष्य का समग्रता से विचार हुआ है। योग की विभिन्न पद्धतियों मे शरीर शुद्धि ही प्रथम चरण है, तत्पश्चात मन, बुद्धि और आत्मा की ओर आगे बढ़ने की विधियां है। परन्तु सर्वो%य लक्ष्य परमात्मा दर्शन, मोक्ष, निर्वाण आदि रहे, इसलिए ऐसा भ्रम हो गया कि भारतीय संस्कृति तो केवल आत्मा का विचार करती है। जबकि हमारे यहाँ लोक संग्रहार्थ सन्यासियों द्वारा भी कर्म की प्रेरणा दी जाती है। खैर अभी हम विचार कर रहे हैं। समस्त जन समुदाय हेतु। अत: शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के धर्म सम्मत आनंद की व्यवस्था होनी चाहिए, ऐसा दीनदयाल जी का एकात्म मानव दर्शन मानता है। हमारी आवश्यकताएँ – चारो पुरुषार्थ,

4. प्रेरक प्रसंग

1. निडरता से डाकू भी बदल गए

दीनदयाल जी जब मात्र 07-08 वर्ष के बालक थे। मामा-मामी के साथ रहते थे। उनके घर डाकू आ धमके। डाकू ने मामी को धकेल दिया। बालक दीनदयाल को गिराकर छाती पर पैर रखकर धन व गहने मांगने लगे। अबोध पर निर्भय बालक दीनदयाल ने डाकू के पैर के नीचे दबे हुए ही मासूम आवाज में कहा – ''हमने सुना था कि डाकू गरीबों की सहायता के लिए अमीरों का धन लूटते है, पर तुम तो मुझ गरीब को भी मार रहे हो।'' डाकूओं के सरदार पर निर्भीक बालक की बात का असर हुआ। वह उनको व परिवार को बिना कोई हानि पहुँचाए, गिरोह सहित वापस चला गया।

2. बाल सुलभ ईमानदारी

विद्यार्थी जीवन में नाना जी देशमुख एवं दीनदयाल जी आगरा में साथ-साथ रहते थे। दीनदयाल जी को बाल-सुलभ ईमानदारी का एक उदाहरण बताते हुए नानाजी लिखते हैं –

एक बार हम दोनों सब्जी खरीदने गए। दो पैसे की सब्जी खरीदकर जब हम वापिस आ रहे थे, तभी अचानक दीनदयाल जी बोले – नाना जी बड़ी भूल हो गई, मेरी जेब में चार पैसे थे जिसमें से एक खोटा सिक्का था। वह सब्जीवाली को दे आया हूँ। वापिस चलो उसे सही पैसे दे आएँ।

हमने वापिस जाकर सब्जी वाली को पूरी बात बताई और खोटा सिक्का वापस करके सही सिक्का लेने को कहा। वह कहने लगी- 'कोई बात नहीं! इतने सारे पैसे हैं कहाँ तुम्हारा खोजूंगी? रहने दो।' पर दीनदयाल जी नहीं माने और स्वयं ने बुढ़िया के पैसों में अपना खोटा सिक्का खोजकर नया सिक्का सब्जीवाली को दे दिया। सब्जीवाली बुजुर्ग महिला की आँखों में स्नेह के आँसू झलकने लगे। आशीर्वाद देते हुए उसने कहा- 'तुम बहुत अच्छे हो, भगवान तुम्हारा भला करें।'

3. स्थानीय मुद्दे खोजो

एक बार दीनदयाल जी अहमदनगर गए। आमसभा में स्थानीय नेता राजाभाऊ झरकर से कहा आप स्थानीय समस्याओं पर बोलिए। शेष राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय विषय मैं देख लूंगा, पर राजाभाऊ अधिक नहीं बोल सके।

दीनदयाल जी ने कहा – ''आपको 80 प्रतिशत वोट जनसंघ की अर्थनीति व स्थानीय समस्याओं पर मिलने वाले हैं अतः आपको इनका गहन ज्ञान होना चाहिए।''

दीनदयाल जी ने रात में चिन्तन किया, उनके ध्यान में आया कि स्टेशन शहर से दो–तीन किलोमीटर दूर है। दूसरे दिन उन्होंने कार्यकर्ताओं से पूछा – स्टेशन इतनी दूर है – शहर में कोई टिकिट खिड़की या बुकिंग ऑफिस है क्या? कार्यकर्ताओं ने बताया यह सुविधा नगर में नहीं है। तब दीनदयाल जी ने कहा – ''शहर में रेलवे ऑफिस की मांग के लिए चौराहे–चौराहे पर भाषण दीजिए, लोगों में हस्ताक्षर अभियान चलाइए और शिष्ट मण्डल लेकर रेलवे के अधिकारियों से मिलिए। इस दृष्टि से जनता को जाग्रत करिए। फिर धीरे–धीरे मांग, सत्याग्रह, संघर्ष, प्रकट सभा और मोर्चा आदि तरीकों से नगर का जनमत एकत्रित करिए।'' इस तरह दीनदयाल जी जनसंघ के नेताओं व कार्यकर्ताओं को सिखाते थे।

प्रजातंत्र का आन्दोलन चला तो उन्होंने मनुष्य को कहा कि ''मैंन इज ए पॉलिटिकल एनिमल'' (Main is a political animal) अर्थात् मनुष्य एक राजनीतिक जीव है और इसलिए इसकी राजनीतिक आकांक्षा की तृप्ति होनी चाहिए। एक राजा बन कनके बैठे और बाकी के राजा नहीं हों, ऐसा क्यों? राजा सबको बनाना चाहिए। इसलिए राजा बनने की आकांक्षा की पूर्ति के लिए उन्होंने सबको वोट देने का अधिकार दे दिया। प्रजातंत्र में यह अधिकार तो मिल गया, परन्तु बाकी जो अधिकार हैं। पेट भरे या न भरे? यदि खाने को नहीं मिला तो? जब लोगों से कहा गया कि तुम चिन्ता क्यों करते हो? वोट का अधिकार तो तुम्हें है ही। तुम तो राजा हो। राजा बनकर बैठे रहो। राज तुम्हारा है। तो लोगों ने कहा–''बाबा! इस राज से हमें क्या करना है, अगर हमें खाने को ही नहीं मिल रहा। पेट को रोटी नहीं मिल रही तो हमें यह राज नहीं चाहिए। हमें तो पहले रोटी चाहिए।'' कार्लमार्क्स आये और उनहोंने कहा– ''हाँ! रोटी सबसे पहली चीज है। राज तो केवल रोटी वालों का समर्थक होता है। अतः रोटी के लिए लड़ों।'' उन्होंने मनुष्य को रोटीमय बना दिया। पर जो लोग कार्लमार्क्स के रास्ते पर चले, वहाँ का अनुभव यह हुआ कि राज्य तो हाथ से गया ही और रोटी भी नहीं मिली। किन्तु दूसरी ओर अमरीका है। वहाँ रोटी भी है, राज भी है, इस पर भी सुख और शान्ति नहीं। जितनी आत्म–हत्याएँ अमरीका में होती हें, और जितने लोग वहाँ मानसिक रोगों के शिकार रहते हैं, जितने लोग वहाँ पर ट्रांक्विलाइजर (Tranquilizers) खा– खाकर सोने का प्रयत्न करते हैं, उतना दुनिया में और कहीं नहीं होता है। लोग कहते हैं–''यह क्या समस्या खड़ी हो गई? रोटी मिल गई, राज मिल गया, पर नींद हराम।'' अब वे कहते हैं– ''बाबा नींद लाओ। किसी तरीके से नींद लाओ। अब वहाँ नींद बड़ी चीज बन गई है और नींद भी आ गई तो तृष्णा उन्हें परेशान कर रही है।''

शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की प्रगति

विचारकों को लगरहा है कि उनकी जीवन–पद्धति में कहीं–न–कहीं कोई मौलिक गलती अवश्य है, जिससे समृद्धि के बाद भी वे सुखी नहीं। कारण यह है कि वे मनुष्य का पूर्ण विचार नहीं कर पाए। हमारे यहाँ पर इस बात का पूरा विचार किया गया है। इसलिए हमने कहा कि मानव की प्रगति का मतलब शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा–इन चारों की प्रगति हे। बहुत बार लोग समझते हैं और इस बात का प्रचार भी किया गया है कि भारतीय संस्कृति तो केवल आत्मा का विचार करती है, बाकी के बारे में वह विचार नहीं करती। यह गलत है। आत्मा का विचार जरूर करते हैं, किन्तु यह सत्य नहीं है कि हम शरीर, मन और बुद्धि का विचार नहीं करते। अन्य लोगों ने तो केवल शरीर, मन और बुद्धि का विचार नहीं करते। अन्य लोगों ने तो केवल शरीर का विचार किया। इसलिए आत्मा का विचार हमारी विशेषता हो गयी।

हमारी आवश्यकताएँ : चारो पुरुषार्थ

इसी प्रकार हम आत्मा की चिन्ता करते हुए शरीर को नहीं भूलते। उपनिषद् में तो स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि गनाऽयमात्म बलहीनेन लभ्याग – दुर्बल (व्यक्ति) आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार की सूक्ति है। कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' – अर्थात् शरीर धर्म का प्रथम साधन है। दूसरे लोगों से हमारा यही अंतर है कि उन्होंने शरीर को साध्य माना है, परन्तु हमने उसे साधन समझा है। इस नाते से हमने शरीर का विचार किया है। जितनी भौतिक आवश्यकताएँ हैं, उनकी पूर्ति का महत्व हमने स्वीकार किया है, परन्तु उन्हें सर्वस्व नहीं माना है, मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्कताओं की पूर्ति, सकी विविध कामनाओं, इच्छाओं तथा ईषणाओं की सन्तुष्टि और उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के सामने कर्तव्य रूप में हमारे यहां चर्तुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना रखी गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का अर्थ उन कर्मों से है जिनसे पुरुषत्व सार्थक हो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इनकी कामना मनुष्य में स्वाभाविक होती है और उनके पालन से उसको आनन्द प्राप्त होता है। इन पुरुषार्थों का भी हमने संकलित विचार किया है यद्यपि मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है, तो भी अकेले उसके सेवन से मनुय का कल्याण नहीं हो सकता। वास्तव में तो अन्य पुरुषार्थों की अवहेलना करने वाला कभी मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। इसके विपरीत शेष पुरुषार्थों को लोक संग्रह के विचार, निष्काम –भाव से करने वाला व्यक्ति कर्म बन्धन से छूटकर मोक्ष का अधिकारी होगा।

'अर्थ' के अंतर्गत आज की परिभाषा के अनुसार राजनीति और अर्थ–नीति का समावेश होता है। पुरानी परिभाषा में 'दण्डनीति और वार्ता' अर्थ के अंतर्गत आती है। 'काम' का सम्बन्ध मानव की विभिन्न कामनाओं की पूर्ति की तृप्ति से है। 'धर्म' मे उन सभी नियमों, व्यवस्थाओं, आचरण संहिताओं तथा मूलभूत सिद्धांतों का अंतर्भाव होता है जिनसे अर्थ और काम की सिद्धि हो।

इस प्रकार धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है, किन्तु फिर भी तीनों अन्योन्याश्रित तथा एक–दूसरे के पूरक और पोषक हैं। धर्म से अर्थ की सिद्धि होती है। यदि व्यापार भी करना हो तो मनुष्यों को ईमानदारी, संयंम, त्याग, तपस्या, अक्रोध, क्षमा, धृति, सत्य आदि धर्म के लक्षणों का निर्वाह करना पड़ेगा। बिना इन गुणों के पैसा नहीं कमाया जा सकता। साधन के रूप में तो धर्म को मानना ही पड़ेगा।

अमरीका वालों ने कहा, 'व्यापार के मामले में ईमानदारी सर्वश्रेष्ठ नीति है' Honesty is the best business policy

यूरोप के लोगों ने कहा, 'ईमानदारी नीति नहीं अपितु सिद्धांत है।' (Honesty is not a policy but a principle)

अर्थात् धर्म में हमारा विश्वास केवल उसकी साधनता के कारण नहीं, अपितु स्वयंभू है। राज्य का आधार भी हमने धर्म को माना है। अकेली दण्डनीति राज्य को चला नहीं सकती। समाज में धर्म न हो तो राज्य नहीं टिक सकेगा। काम पुरुषार्थ भी धर्म के सहारे ही साधता है। भोजन उपलब्ध होने के उपरान्त कब, कहाँ, कितना, कैसा और कैसे उसका उपयोग हो, यह तो धर्म ही निश्चित करेगा। अन्यथा रोगी ने यदि स्वथ्य व्यक्ति का भोजन किया और स्वस्थ्य व्यक्ति ने रोगी का भी, तो दोनों का ही अकल्याण होगा। मनुष्य की मनमानी को रोकने, उसके स्वैराचरण पर प्रतिबन्ध लगाने तथा प्रेय के पीछे श्रेय को न भूलने देने में धर्म ही सहायक होता है। अतः हमारे यहाँ धर्म का विशेष महत्व है।

धर्म महत्वपूर्ण है, परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अर्थ के अभाव में धर्म नहीं टिक पाता । एक सुभाषित है –

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्,
क्षीणाः नराः निष्करुणाः भवन्ति।

अर्थात् भूखा सब पाप कर सकता है। विश्वामित्र जैसे गषि ने भी भूख से पीड़ित होकर शरीर धारण करने के लिए चाण्डाल के घर में चोरी करके कुत्ते का जूठा मांस खाया था। अतः हमारे यहाँ आदेश है कि अर्थ का अभाव नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि वह धर्म का द्योतक है। इसी प्रकार दण्डनीति का

अभाव अर्थात् अराजकता ही धर्म के लिए हानिकारक होती है। उसमें 'मत्स्य-न्याय' काम करने लगता है। अत: राज्य की स्थापना धर्म के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अर्थ के 'प्रभाव' के अनर्थ की सम्भावना

अर्थ के अभाव के समान ही अर्थ का प्रभाव भी धर्म का घातक होता है। प्रभाव का अर्थ आधिक्यमात्र ही नहीं। जब व्यक्ति और समाज में अर्थ साधन न रहकर साध्य बन जाए तथा जीवन की सभी विभूतियाँ अर्थ से ही प्राप्त हों तो वहाँ अर्थ का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। और वह अर्थ-संचय के लिए नानाविध पाप करता है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के पास अधिक धन हो, उसके विलासी बन जाने की सम्भावना रहती है। जिस व्यक्ति को अर्थ के सदुपयोग का ज्ञान नहीं होता, वहाँ भी अर्थ का प्रभाव होता है। हाँ 'गौण अर्थ' अर्थात् मुद्रा तथा उपभोक्ता वस्तुओं के लिए लगने वाली उत्पादक वस्तुओं का आधिक्य हो, वहाँ भी अर्थ का प्रभाव होता है। इन सभी प्रकार के अर्थ के प्रभावों को बचाना चाहिए। इसके लिए शिक्षा, संस्कार, दैवी सम्पदयुक्त व्यक्तियों का निर्माण तथा अर्थव्यवस्था का उपयुक्त ढाँचा, सभी का सहारा लेना जरूरी होता है।

दण्ड नीति

अर्थ के अंतर्गत दण्ड-नीति भी आती है। उसका 'प्रभाव' भी धर्म के लिए हानिकारक होता है। राजा को बताया है कि न तो 'क्षीणदण्ड' होना चाहिए , और न 'उग्रदण्ड' होना चाहिए, अपितु 'मृदुदण्ड' होना चाहिए। यदि राजा दण्ड-नीति का अत्यधिक सहारा लेता है तो प्रजा में विद्रोह की भावना पैदा हो जाती है। जब धर्मभाव के स्थान पर दण्ड ही प्रजा के आचरण का नियामक बन जाए तो दण्डनीति का 'प्रभाव' हो जाता है तथा धर्म का ह्रास होने लगता है। निरंकुश राजाओं के शासन में धर्म की ग्लानि का यह प्रमुख कारण है।

राज्य की निरंकुशता

राज्य जब सब प्रकार की विभूतियों को स्वाधीन कर लेता है तब भी उसका प्रभाव पैदा होकर धर्म की हानि होती है। राज्य की शक्ति ओर क्षेत्र अमर्यादित हो गए तो सम्पूर्ण जनता राज्यमुखापेक्षी बन जाती है। वहाँ राज्य का प्रभाव हो जाता है। राज्य में कर्तव्य भावना के स्थान पर आसक्ति पैदा हो जाती है। ये सब प्रभाव के लक्षण है। इन अवस्थाओं में धर्म को धक्का लगता है। अत: अर्थ का दोनों ही दृष्टि से प्रभाव नहीं होने देना चाहिए।

काम का भी इसी प्रकार विचार किया गया है। काम पुरुषार्थ की ओर कतई ध्यान नहीं दिया गया तो धर्म की हानि होगी। बिना भोजन के धर्म नहीं चल सकता। मन को सन्तोष देने वाली ललितकलाओं, यज्ञ योगादि, कर्मों की अवहेलना हुई तो धर्म का पालन करने वाले संस्कार नहीं होंगे। मानस विकृत रहेगा। धर्म की हानि होगी। दूसरी ओर रोम के Gluttons की भाँति हम पेटू और विलासी बन गए अथवा ययाति की भांति काम मोहित होकर अपने सभी कर्तव्यों को भूल गए तो भी धर्म की हानि होगी। अत: धर्म-अविरोधी अर्थात धर्म सम्मत काम पुरुषार्थ का अवश्य निर्वाह करना चाहिए।

इस प्रकार हमने व्यक्ति के जीवन का पूर्णता के साथ तथा संकलित विचार किया है। उसके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी का विकास करन का उद्देश्य रखा है। उसकी सभी भूखों को मिटाने की व्यवस्था की है। किन्तु यह ध्यान रखा है कि एक भूख को मिटाने के प्रयत्न में दूसरी भूख न पैदा कर दें अथवा दूसरे के मिटाने का मार्ग बन्द न कर दें। इस हेतु चारों पुरुषार्थ का संकलित विचार हुआ है। यह पूर्ण मानव की, एकात्म मानव की कल्पना है जो हमारा आराध्य तथा हमारी आराधना का साधन दोनों ही है।

व्यष्टि समष्टि में समरसता

मानव केवल एक व्यक्ति मात्र नहीं है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय 'व्यक्ति' केवल एकवचन 'मैं' तक सीमित नहीं। उसका अनेक वचन 'हम' से भी अभिन्न सम्बन्ध है। अत: हमे समाज व समष्टि का भी विचार करना होगा।

समाज का निर्माण

समाज मानवों का समूह है, यह तो सामान्य बात है। किन्तु समाज की सृष्टि कैसे हुई? इसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार तत्वेत्ताओं ने रखे हैं। पश्चिम का विचार, जिसके आधार पर वहाँ राजनीतिक व सामाजिक जीवन की सृष्टि हुई है, प्राय: यह है कि समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो वयक्तियों ने स्वयं मिलकर बनाया है अर्थात् यह व्यक्तियों के समझौते के आधार पर बना है। इसको 'सामाजिक समझौता सिद्धांत' (Social Contract Theory) नाम

से जाना जाता है। इसलिए वहाँ अधिक महत्व व्यक्ति का है जो कि समाज की रचना करता है। पश्चिम के विचारों में कहीं अंतर है तो इस बात का कि यदि व्यक्ति ने समाज की रचना कर ली तो 'अवशेष शक्ति' (Residuary power) समाज के पास रहें अथवा व्यक्ति के पास? क्या व्यक्ति को समाज बदलने का अधिकार है? क्या समाज व्यक्ति के ऊपर तरह-तरह के बन्धन लगाकर अपने प्रति वफ़ादारी की अपेक्षा कर सकता है? अथवा व्यक्ति इन सब प्रश्नों के सम्बन्ध में स्वतंत्र है?

पश्चिम में यह विचार विवाद का विषय बना रहा है। किसी ने समाज का पक्ष लिया है, और उसमें संघर्ष की स्थिति पैदा हुई। सत्य तो यह है कि उनका यह विचार कि समाज का निर्माण व्यक्तियों ने किया है, मूलत: गलत है। समाज व्यक्तियों का समूह है, यह बात सत्य होने पर भी; व्यक्तियों ने समाज को बनाया या व्यक्ति मिले और समाज बन गया, ऐसा कहीं भी नहीं दिखाई देता।

समाज 'स्वयंभू' है

हमारे विचार के अनुसार तो समाज 'स्वयंभू' है। जिस प्रकार से व्यक्ति पैदा होता है, उसी प्रकार से समाज भी पैदा होता है। व्यक्ति मिलकर कभी समाज को नहीं बनाते। यह कोई क्लब नहीं है, 'ज्वाइण्ट स्टाक कम्पनी' (Joint Stock Co.) जैसी सत्ता भी नहीं है या जैसे रजिस्टर्ड सोसायटियाँ बनती हैं वैसी रजिस्टर्ड सोसायटी भी नहीं है, जैसे को-आपरेटिव सोसायटियाँ होती हैं वैसी को-आपरेटिव सोसयाटी भी नहीं है। वास्तव में समाज एक ऐसी सत्ता है जिसकी अपनी आत्मा है, जिसका अपना एक जीवन है। इसलिए यह भी उसी प्रकार से जीवमान सत्ता है जैसे मनुष्य जीवमान सत्ता है। समाज को हमने किसी प्रकार के कृत्रिम संगठन के रूप में स्वीकार नहीं किया। समाज की अपनी हस्ती होती है। समाज की भी व्यक्ति की भाँति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होती है। इस बात को कुछ पश्चिम के लोग तथा मनोवैज्ञानिक भी अब स्वीकार करने लगे हैं। मण्डूगल (Modougal) ने सामाजिक मन (Group Mind) जैसे नये मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव किया। उसमें उसने इस बात और सत्य को सवीकार किया कि जैसे मनुष्य अलग रहता है, उसका अपना मस्तिष्क होता है, वैसे ही समूह (Group) का भी मस्तिष्क रहता है।

परन्तु व्यक्तियों की शक्ति का जोड मिला करके समूह या समाज की शक्ति नहीं बन जाती। ग्रुप तथा व्यक्ति की शक्ति व बुद्धि का जोड़ मिला दिया जाए और उसमें से समाज की बुद्धि या शक्ति प्रकट हो जाए, ऐसी बात नहीं। ग्रुप की बुद्धि, ग्रुप की भावना, क्रिया शक्ति-समूह की ये शक्तियाँ मूलत: व्यक्ति से भिन्न होती है और इसलिए कभी-कभी ऐसे अनुभव आते हैं कि बिल्कुल कमजोर-से-कमजोर व्यक्ति, व्यक्तिगत नाते से दुर्बल होते हुए भी समाज के नाते से वह बड़ा पराक्रमी निकल आता है। व्यक्ति के नाते से मनुष्य जिन बातों को सहन कर लेता है, समाज के नाते से वह उन बातों को सहन करने के लिए तैयार नहीं होता। व्यक्ति के नाते से कोई व्यक्ति बहुत अच्छा हो सकता है तथा समाज के नाते में बुरा हो सकता है। इसी प्रकार समाज के नाते कोई अच्छा तथा व्यक्तिगत नाते बुरा हो सकता है। विचार करने का यह तरीका बहुत महत्वपूर्ण है।

व्यक्ति व समाज की विचार पद्धतियाँ

एक छोटा-सा उदाहरण दे दूँ। एक बार बिनोबा जी के साथ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री गुरुजी की चर्चा हुई और उसमें एक प्रश्न आ गया कि हिन्दू का विचार करने और मुसलमान का विचार करने का तरीका कहाँ भिन्न हो जाता है? गुरुजी ने विनोबा जी से कहा कि अच्छे आदमी सब जगह रहते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में नेक आदमी निकलते हैं, ईमानदार आदमी निकलते हैं, अच्छे आदमी निकलते हैं, दूसरों की सेवा करने वाले निकलते हैं, उसी प्रकार गुण्डे भी दोनों समाजों में मिल सकते हैं। अर्थात अच्छे और बुरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे किसी समाज विशेष की बपौती हैं। किन्तु देखने में यह आता है कि व्यक्ति के नाते गुण्डे, बदमाश तथा बुरे हिन्दू भी जनसमूह के रूप में जब एकत्र होते हैं तो वे सदैव अच्छी बातों का ही विचार करते हैं। उनके मन में कोई पाप नहीं आता। परन्तु दूसरी ओर जब 10 मुसलमान इकट्ठे होकर बैठते हैं तो वहाँ पर जिस बात व बुराइयों को एक व्यक्ति के नाते एक मुसलमान कभी अच्छा नहीं मानता है, वह कोई और तरीके से विचार करने लगता है। यह सामान्य जीवन का अनुभव है। बिनोबा जी ने इस सत्य को स्वीकार किया परन्तु इसका कारण क्या है, यह नहीं बताया।

यदि इस ओर ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि व्यक्ति के विचार करने का तरीका और समाज के विचार करने का तरीका-इन दोनों में हमेशा अंतर रहता है अर्थात् ये दोनो चीजें गणित के जोड़ हिसाब मिलाकर पैदा नहीं होती। यदि हजार व्यक्ति इकट्ठे हो जाएँ तो वे उसी प्रकार से विचार करेंगे, यह नहीं कहा जा सकता।

दूसरा उदाहरण

हिन्दुस्तान के विद्यार्थी को ले लिया जाय तो आज का विद्यार्थी बड़ा नरम तथा सीधा नजर आयेगा। आज से बीस वर्ष पहले के विद्यार्थी जितनी उठा-पटक करते थे, उनकी तुलना में आज का विद्यार्थी बहुत दुबला-पतला, सभी तरह से नरम दिखाई देता है। किन्तु जब वैसे 40 विद्यार्थी मिल जाएं तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। फिर तो वे सभी प्रकार की उच्छृंखलता कर सकते हैं अर्थात् अकेला विद्यार्थी अनुशासनपूर्ण है, परन्तु जब 40 मिल गये तो उनमें अनुशासनहीनता आ जाती है। यह स्थिति क्यों आ जाती है? इसका विचार करना पड़ेगा जिसे 'माब मेन्टेलिटी' (भीड़ की मानसिकता) कहते हैं, यह इण्डिविडुएल मेन्टेलिटी (वैयक्तिक मानसिकता) से भिन्न प्रकार की है। यह माब मेन्टेलिटी का -समूह मानव का-एक छोटा सा रूप है।

किन्तु जिसे समाज कहते हैं और जो मानसिकता है, वह तो बहुत समय से बनती रहती है। कुछ लोगों के कथनानुसार जब एक समूह बहुत समय तक इकट्ठा रहता है, तब साथ-साथ रहते हुए वातावरण के परिणामस्वरूप एक साथ रहने की आदत पड़ने से उनकी सोचने की, विचार करने की प्रणाली बन जाती है और अपनी पद्धतियाँ निर्माण हो जाती हैं। यह तो सत्य है कि साथ रहने से लोगों में कुछ बातों में एकता हो जाती है-समानशीलव्यसनेषु सख्यम्। किन्तु जिसे राष्ट्र या समाज कहते हैं वह इतने मात्र से ही बनता है।

बड़े-बूढ़े राष्ट्र समाप्त क्यों हो गये?

यह सब जानते हैं कि पुराने-पुराने कुछ राष्ट्र समाप्त हो गये। जिस यूनान में एलेक्जेण्डर पैदा हुआ था, जिसमें हेरेडोटस पैदा हुआ था, जिसमे यूलिसिस पैदा हुआ, जिसमें अरस्तु, सुकरात व अफ्लातून पैदा हुए थे, उस यूनान और आज के यूनान में रहने वालों को मानव की दृष्टि से देखेंगे तो उनकी वंश-परम्परा में तो कोई खलल नहीं पड़ा, क्योंकि कभी ऐसा नहीं हुआ कि वहाँ रहने वाले सब मर गये या यूनान उजड़ गया। पुराने यूनान के मानव की पिता-पुत्र परम्परा समाप्त नहीं हुई। वहाँ मानव खत्म नहीं हुए। हो सकता है आज जो यूनान में रहते हैं, उनके पिता-पितामाह की पीढ़ियाँ देखी जाएँ तो वे 250-500 पीढ़ी पुराने यूनानियों के साथ जुड़ जाएँगे। किन्तु इतना होने पर भी आज पुराना यूनान राष्ट्र नहीं है। यह कैसे हो गया? दूसरी ओर यहूदियों को लें। वे सदियों तक भिन्न देशों के लोगों के साथ रहे पर संसर्ग से वे उनके मानस के साथ एकात्म नहीं हुए। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र के अस्तित्व का कारण एक साथ रहना नहीं, अपितु कोई दूसरी चीज है।

राष्ट्र किसे कहें?

राष्ट्र का अस्तित्व उसके नागरिकों के जीवन का ध्येयभूत भाव है। जब एक मानव समुदाय के समक्ष एक मिशन, विचार या आदर्श रहता है और वह समुदाय किसी भूमि विशेष को मातृभाव से देखता है तो वह राष्ट्र कहलाता है। इसमें से एक का भी अभाव रहा तो राष्ट्र नहीं बनेगा। जैसे शरीर में 'आत्मा' नाम की चीज है। आत्मा के कारण व्यक्ति रहता है। जिस प्रकार आत्मा और शरीर का सम्बन्ध छूटने पर हम कहते हैं कि वह व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त खत्म हो गया, उसी प्रकार से विचार या मूलभूत सिद्धांत होते हैं। यद्यपि हमारे यहाँ माना गया है कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है, परन्तु पुनर्जन्म लेने वाले तथा इस व्यक्ति में फर्क रहता है। दोनों को हम अलग-अलग मानते हैं। पुनर्जन्म उसी व्यक्ति का होता होगा, परन्तु तब वह व्यक्ति दूसरा होता है। यह व्यक्ति खत्म हो गया तो इसमें भी खत्म होने वाली मुख्य बात यह है कि इसमें आत्मा नहीं रही। शरीर की अन्य चीजों में भी परिवर्तन होते हैं। बच्चे से बूढ़े होने तक कितना परिवर्तन हो जाता है? शरीर-शास्त्रियों का तो कहना है कि हमारे शरीर का जो प्रत्येक कोश है वह भी कुछ वर्ष में पूर्णरूपेण बदल जाता है। इसमें तरह-तरह के परिवर्तन हो जाते हैं। परन्तु चूंकि यह आत्मा बनी रहती है, इसलिए आत्मा के कारण शरीर चलता रहता है। इसे तर्क-शास्त्र में 'मान्यता का सिद्धांत' कहते हैं। शायद इस मान्यता के कारण वह चीज चली आती है, इसके संबंध में एक रूचिपूर्ण उदाहरण लोग नाई के उस्तरे का दिया करते हैं।

कहते हैं कि एक बार एक नाई ने हजामत बनाते समय बताया कि उसका उस्तरा 60 वर्ष पुराना है। उसके पिता उसी उस्तरे से हजामत बनाते थे।

ग्राहक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे यह देखकर तो और भी आश्चर्य हुआ कि उस्तरे का बेंट तो खूब चमक रहा है। उसने पूछा, ''तुम्हारे उस्तरे का बेंट तो बड़ा चमक रहा है? 60 वर्ष से इसकी चमक कैसे टिका कर रखी है?'' इस पर नाई ने सहजभाव से उत्तर दिया, ''60 बरस चमक कैसे टिक सकती है? बेंट तो अभी छः महीने पहले लगाया है। इस पर ग्राहक ने पूछा, ''और उस्तरे का छुरा कब का है?'' नाई बोला-''इसे बदलवाये तीन वर्ष हो गये।'' अर्थात कभी छुरा बदला गया, कभी बेंट, पर उस्तरा पुराना ही रहा। उसकी मान्यता बनी रही। इसी प्रकार व्यक्ति की अनेक बातें बदल जाती हैं फिर भी उसकी मान्यता बनी रहती है।

राष्ट्र की आत्मा-चिति

उसी प्रकार राष्ट्र की भी एक आत्मा होती है। उसका एक शास्त्रीय नाम है। 'सिद्धांत और नीति' में इसे 'चिति' कहा गया है। मग्डूगल के अनुसार किसी भी समूह की कोई मूल प्रकृति होती है। वैसे ही 'चिति' किसी समाज की यह प्रकृति है जो जन्मजात है तथा जो ऐतिहासिक कारणों से नहीं बनी।

मनुष्य के व्यक्तित्व व आत्मा, व्यक्तित्व व चरित्र तथा चरित्र व आत्मा-इन सब में अंतर रहता है। व्यक्ति जीवन भर में जितने कर्म करता है, जितने संस्कार उस पर होते हैं या जो विचार आते हैं, उन सबका उस पर एक संकलित परिणाम होता हैं। इस संकलित परिणाम से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। परन्तु आत्मा में कोई चीज जुड़ती नहीं। उसी प्रकार राष्ट्र की संस्कृति में ऐतिहासिक कारणों तथा वातावरण से उत्पन्न स्थिति के सामूहिक परिणामों से बहुत चीजें जुड़ जाती है। समाज के संसर्ग से, समाज के प्रयत्नों से , समाज के इतिहास के परिणामस्वरूप जिन चीजों का वे निर्माण करते हैं और जिन्हें वे अचछा व गौरवदायी समझते हैं, वे सब चीजें संस्कृति के अंतर्गत तो आ जाती हैं। परन्तु चिति के अंतर्गत नहीं आतीं। चिति तो मूलभूत होती है। चित्त को लेकर तो प्रत्येक समाज पैदा होता है और उस समाज की संस्कृति की दिशा चिति निर्धारित करती है अर्थात् जो चीज चिति के अनुकूल होती वह संस्कृति में सम्मिलित कर ली जाती है।

उदाहरण के तौर पर हमारे यहाँ महाभारत हुआ, जिसमें कौरवों की पराजय व पाण्डवों की विजय हुई। परन्तु पाण्डवों की विजय को हमने क्यों धर्म कहा? व कौरवों को क्यों नहीं कहा? या यह क्यों नहीं कहा कि यह तो सीधी-सादी राज्य की लड़ाई है? लंका में जब राम लड़ाई करने गये तथा विभीषण रावण का साथ छोड़कर राम के साथ आया तो उस समय विभीषण ने जो कुछ किया। उसे तो वास्तव में देशद्रोह कहना चाहिए। परन्तु हममे से उसे कोई देशद्रोह नहीं कहता। विभीषण को तो राजद्रोह करने के बाद भी सब अच्छा कहते हैं। उसने देशद्रोह किया, राज-द्रोह तथा भातृद्रोह किया। भाई को, राजा को छोड़ करके वही काम किया जो जयचन्द ने किया था। उसको क्विजलिंग (द्वितीय महायुद्ध में नार्वे का देशद्रोही नागरिक जो देशद्रोह व गद्दारी का पर्याय बन गया) कहना चाहिए था। पर विभीषण को कोई क्विजलिंग नहीं कहता। उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं कि उसने ठीक काम किया, तथा रावण ने जो कुछ किया, उसके लिए हमारे मन में अनादर रहता है। यह क्यों होता है? इसके पीछे कोई राजनीतिक कारण नहीं है। युधिष्ठिर के लिए सम्मान और दुर्योधन के लिए अनादर राजनीतिक कारणों से नहीं है। कृष्ण भगवान ने कंस को पछाड़ दिया, मामा की हत्या की, उस समय के राजा को हटाया। परन्तु कृष्ण को हम भगवान का अवतार मानते हैं और कंस को हम असुर कहते हैं। यह क्यों? इसका निर्णायक यदि कुछ है तो यह कि हमारे मन की प्रकृति या चिति थी। उसके अनुकूल जो-जो हुआ उसे हम संस्कृति में जोड़ते गये। वे तो हमारे ऊपर संस्कार करने वाली चीजें हैं और उसके प्रतिकूल चलने वाली चीजों को हमने विकृति कहा। जो हमारे अनुकूल नहीं हो सकती, हमने उन चीजों को छोड़ दिया। उस इतिहास को हमने अपना नहीं माना। 'चिंतित' वह मापदण्ड है जिससे हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है। यही राष्ट्र की आत्मा है। इसी आत्मा के आधार पर राष्ट्र खड़ा होता है और यही आत्मा राष्ट्र के प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण द्वारा प्रकट होती है।

व्यक्ति राष्ट्र का उपकरण भी

व्यक्ति भी राष्ट्र की आत्मा को प्रकट करने का एक साधन है। इस प्रकार व्यक्ति अपने स्वयं के अतिरिक्त राष्ट्र का भी प्रतिनिधित्व करता है। इतना ही नहीं,अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए राष्ट्र जितनी संस्थाओं को जन्म देता है, उनका उपकरण भी व्यक्ति ही है। और इसलिए वह उनका भी प्रतिनिधि है। राष्ट्र में व्यापक जो समिष्टयाँ हैं, जैसे मानव, उनका भी प्रतिनिधित्व व्यक्ति ही

करता है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति का बहुमुखी व्यक्तित्व है, परन्तु उनमें पारस्परिक खिंचाव या संघर्ष नहीं अपितु एकात्मता, समन्वय एवं सामंजस्य रहता है। इस तथ्य को हम समझें। इस सामंजस्य के नियमों का आकलन और उसकी व्यवस्था ही मानव के आदर्शों के बीच की विसंगति को दूर कर उसे सुख और शान्ति दे सकती है तथा उसका विकास कर सकती है।

'संस्था'द्वारा राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति

जीवनशास्त्री डार्विन के सिद्धांत मानने वालों के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थितियों में प्राणी को जिन्दा रहने के लिए जिन चीजों की जरूरत होती है, उसी प्रकार के अंग बनते चले जाते हैं। परन्तु हमारे यहाँ इसे दूसरे रूप में कहा कि प्राण की शक्ति के सहारे मनुष्य की आत्मा अपने लिए जितने अंगों की जरूरत समझती है, उसका निर्माण करती है। जैसे शरीर में अंग निर्माण यह आत्मा करती है, वैसे ही राष्ट्र में भी ऐसे बहुत से अंग राष्ट्र की आवश्यकता को पूर्ण करने लिए निर्मित होते हैं। यदि कारखाना खोल लिया तो जिस प्रकार अपने काम का निर्वाह करने के लिए उसमें बहुत, तरह-तरह के विभाग होते हैं- कहीं मशीन लगाई जाती है, कहीं भवन बनाया जाता है, कहीं बिक्री का काम किसी की तरफ लगाया जाता है, वहाँ जैसे विभाग पैदा होते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र भी अनेक प्रकार के विभाग जैसी चीजें पैदा करता है, जिन्हें हम 'संस्थाएं' कहते हैं। संस्थाओं का जन्म राष्ट्र अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए करता है। कुटुम्ब, जाति, वर्ण, श्रेणी पुराने जमाने में अपने यहाँ थी और आज श्रमिक संगठन (ट्रेड यूनियन) व गिल्ड या पूरा आदि इस प्रकार की विभिन्न संस्थाएं हैं। सम्पत्ति भी एक संस्था है। विवाह भी एक संस्था है। अपने यहाँ वर्णन है कि पुराने जमाने में विवाह होते ही नहीं थे। बाद में एक ॠषि ने आकर इस विवाह पद्धति का निर्माण किया। यह एक संस्था उन्होंने बनायी। इस तरह से पहले हमारे यहाँ गुरूकुल की एक संस्था चलती थी। ॠषिकुल की भी एक संस्था चलती थी।

'राज्य' संस्था का निर्माण

इसी प्रकार से अनेक संस्थाओं में राज्य भी एक संस्था है। इनका निर्माण भी राष्ट्र करता है। पश्चिम में जो गड़बड़ आ गई, उसका कारण यह है कि उन्होंने राज्य व राष्ट्र को एक चीज समझा। राज्य व राष्ट्र वास्तव में एक नहीं हैं। राज्य का निर्माण हमारे यहाँ सामाजिक समझौते के अनुसार हुआ। पहले राजा नहीं था। महाभारत में वर्णन है कि कृतयुग मे न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था, न दण्ड देने वाला, सब प्रजा धर्म के आधार पर एक दूसरे की रक्षा करती थी।

न राज्यं न राजासीत् न दण्डो न दाण्डिका:।
धर्मेणैव प्रजा: सर्वा: रक्षन्तिस्म परस्परम्।।

धर्म की ग्लानि द्वारा अव्यवस्था का जन्म

किन्तु बाद में अव्यवस्था आई, लोभ आया, धर्म की ग्लानि हुई और 'मत्स्यन्याय' प्रारम्भ हो गया। सारे ॠषि घबराये कि कैसे काम चलेगा? सभी ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्माजी ने स्वयं रचा हुआ एक ग्रंथ इन ॠषियों को दिया जो 'दण्डनीति' या 'राज्यशास्त्र' के सम्बन्ध का ग्रन्थ था। उन्होंने साथ-साथ आकर मनु से कहा कि तुम राजा हो जाओ। परन्तु मनु ने कहा ''मैं तो राजा नहीं होता क्योंकि राजा बनने के बाद मुझे दण्ड करना पड़ेगा और कुछ लोगों को मारना होगा, कुछ को पीटना होगा, कुछ को कारागार में डालना होगा व अन्य कई झंझट करने पड़ेंगे। मैं यह पाप क्यों करूँ?'' इस पर ब्रह्माजी ने कहा ''ऐसी कोई बात नहीं है। यह पाप नहीं, बल्कि बाकी के लोग धर्म का काम करें। इसके लिए तुम यह काम करोगे। अत: यह भी धर्म ही गिना जायेगा। इतना ही नहीं प्रजा के जितने कर्म होंगे, उन कर्मों का एक हिस्सा तुम्हे मिल जायेगा और इसलिए ये तो जितना धर्म करेंगे, इसका एक हिस्सा स्वयं तुम्हे मिल जायेगा।'' इसमें बताया नहीं गया। पर मैं समझौता हूँ कि यदि प्रजा पाप या अधर्म करेगी और राजा उसे रोक नहीं सके तो इस पाप का हिस्सा भी राजा को मिलना चाहिए। ऐसा तो नहीं हो सकता कि 'मीठा-मीठा गप्प और कड़ुवा-कड़ुवा थू।' दोनों ही मिलने चाहिए। राज्य के ऊपर यह समझौता सिद्धांत लागू हो सकता है, राष्ट्र के ऊपर नहीं। पश्चिम में कुछ उल्टा हुआ। समाज तो उनकी दृष्टि में समझौते में से पैदा हुआ, परन्तु राजा दैवी अधिकार के आधार पर सीधा ईश्वर का प्रतिनिधि बन गया। यह उल्टी बात है। हमारे यहाँ राजा को चाहे आदि समय में से पैदा हुआ माना गया, परन्तु समाज को 'स्वयंभू' माना है। राज्य उसकी एक संस्था के नाते से है।

व्यक्ति एकांगी नहीं, वह बहुरंगी है

राज्य के समान और संस्थाएँ भी आवश्यकतानुसार समय-समय पर

पैदा होती है। प्रत्येक व्यक्ति इनमें से प्रत्येक संस्था का अंग रहता है, यथा-कुटुम्ब का मैं अंग हूँ। जाति व्यवस्था हो तो उसका भी अंग हूँ, मेरा कोई धंधा है तो उसका भी मैं एक अंग हूँ, इस समाज का भी मैं एक अंग हूँ और इस समाज से आगे यदि पूर्ण मानव का विचार करें तो उसका भी एक अंग हूँ। और मानव के आगे बढ़ करके यदि हम इस चराचर जगत का विचार करें तो उसका भी एक अंग हूँ। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति नाम की जो चीज है, वह एकांगी नहीं बल्कि बहुरंगी है। यह अंगो वाला होकर भी परस्पर सहयोग, समन्वय व पूरकता और एकात्मता के साथ चल सकता है। यह व्यक्ति को कुछ गुण दिया हुआ है।

जो व्यक्ति इस गुण को ठीक प्रकार से उपयोग कर सकता है, वह व्यक्ति सुखी, व जो गुण का ठीक प्रकार से उपयोग न कर सके वह दु:खी। उसका विकास ठीक नहीं होगा। उदाहरण लें तो एक व्यक्ति घर में अपनी माँ का बेटा होता है, अपनी पत्नी का पति होता है, अपनी बहन का भाई होता है, अपने पुत्र का पिता होता है। एक व्यक्ति है परन्तु वह पिता भी है, पुत्र भी है, भाई भी है, पति भी है। इतने रिश्ते आ गये। व्यक्ति को इन सब नाते-रिश्तों को बड़ी चतुराई के साथ निभाना होता है। जहाँ ढंग से नहीं निभता, वहाँ झगड़ा होता है। यदि बहन का पक्ष होता है तो पत्नी कहती है कि तुम अपनी बहन का पक्ष लेते हो। नन्द-भौजाई का झगड़ा यहीं से पैदा होता है। सास-बहू का झगड़ा इसमें से पैदा होता है। इस झगड़े में पति-बेटे की मुसीबत होती है। वह परेशान रहता है। क्योंकि माता का प्रेम व पत्नी के प्रति जिम्मेदारी व प्रेम-इसमें संघर्ष आता है। इसमें संघर्ष न आवे अर्थात् वह इसे ठीक प्रकार से निभाये-ऐसा जब हो सकेगा तो हम कह सकेंगे कि उसके परिणामस्वरूप व्यक्तित्व का जो विकास होगा, वह समन्वित होगा।

समाज और व्यक्ति में संघर्ष नहीं

हम व्यक्ति के विभिन्न रूपों तथा समाज की अनेक संस्थओं में स्थायी संघर्ष या हितविरोध नहीं मानते। यदि कहीं ऐसा दीखता है तो वह विकृति का द्योतक है, प्रकृति अथवा संस्कृति का नहीं। पश्चिम में कुछ लोगों ने माना कि जीवन का विकास इस मूलभूत संघर्ष में से हुआ है। इसलिए वे समझते हैं कि राज्य व व्यक्ति में हमेशा संघर्ष की स्थिति रहती है। इसी आधार पर उन्होंने वर्ग संघर्ष की कल्पना भी की।

समाज में वर्ग होते हैं। अपने यहाँ भी जातियाँ बनी, किन्तु एक जाति व दूसरी जाति में संघर्ष का उनका विचार हमने नहीं माना। हमारे वर्णों की कल्पना भी विराट् पुरुष के चारों अंगों से की गई है। विराट पुरुष के सिर में से ब्राह्मण पैदा हुआ, बाहुओं में से क्षत्रिय पैदा हुआ, उसके उरू से वैश्य पैदा हुआ, और पैर से शूद्र हुए। यह जो कल्पना आई, उसका विचार करें कि पैर, हाथ, सिर व उरू इनके बीच कोई संघर्ष है क्या? अगर संघर्ष मानकर चलें तो शरीर चलेगा ही नहीं। क्योंकि शरीर के अंगों में अथवा पैर में व सिर में संघर्ष होता ही नहीं। संघर्ष का प्रश्न ही नहीं, बल्कि सभी में कोई चीज यदि है तो 'एकात्मता' है। ये अंग एक-दूसरे के पूरक ही नहीं, उनमें पूर्ण अभिन्नता एवं आत्मीयता है और परस्पर निर्भरता के साथ शरीर संचालन की सुचारू व्यवस्था है।

समाज की संस्थाओं में विभिन्न कारणों से कभी विकार आ सकता है। समाज का प्राण दुर्बल हो गया हो तो सब अंग दुर्बल और निस्तेज हो जाएँगे। कभी अंग विशेष में खराबी भी आ सकती है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार संस्थाओं की उपादेयता और आवश्यकता में भी अंतर आ सकता है। आज व्यवहार में संस्था कैसी है, और कैसी होनी चाहिए, इसका विचार भी आवश्यक है। परस्पर पूरकता तथा एकात्मता ही व्यवहार का मापदण्ड हो सकते हैं। कुटुम्ब, जाति, श्रेणी, पंचायत, जनपद, राज्य आदि सब संस्थाएँ राष्ट्र तथा मानव के अंगभूत हैं। उनमें एकात्मभाव चाहिए, वे परस्पर पूरक हैं, परस्परावलम्बी हैं। इसलिए उनमें परस्परानुकूलता की वृत्ति होनी चाहिए, परस्पर संघर्ष या विरोध की नहीं।

राज्य ही सब कुछ नहीं।

विभिन्न संस्थाओं में राज्य एक महत्वपूर्ण संस्था है किन्तु सर्वोपरि नहीं। आज विश्व में जो समस्याएँ पैदा हो रही हैं, उनका एक प्रमुख कारण यह भी है कि प्राय: राज्य और समाज में समीकरण करके चलते हैं। वे तत्वत: अथवा व्यवहार में तो निश्चित ही राज्य को समाज का एकमेव प्रतिनिधि मानते हैं। दूसरी संस्थाएँ इतनी नगण्य हो गई हैं तथा राज्य इतना प्रभावी हो गया है कि सम्पूर्ण शक्ति उसमें केन्द्रित होकर एकाधिकार बढ़ता जा रहा है।

हमने राज्य को ही राष्ट्र का एकमात्र प्रतिनिधि नहीं माना। इसलिए हमारे

यहाँ यह हुआ कि राज्य समाप्त होने के बाद भी हमारा राष्ट्र समाप्त नहीं हुआ। ईरान में राज्य समाप्त होते ही ईरान का राष्ट्र समाप्त हो गया। किन्तु हमारे यहाँ राज्य को कई बार गुलाम बनने का मौका आया, राजनीतिक दृष्टि से दिल्ली के तख्त के ऊपर कभी पठान बैठे, कभी तुर्क बैठे, कभी मुगल बैठे, कभी अँग्रेज बैठे। किन्तु इसके बाद भी हमारा राष्ट्र जिन्दा रहा, क्योंकि हमारे जीवन का केन्द्र राज्य नहीं था। यदि राज्य को जीवन केन्द्र मानकर चले होते तो हम समाप्त हो गये होते। जैसा पुराने जमाने की बहुत-सी कथाओं में आता है कि कोई राक्षस था। उसके प्राण किसी तोते के अन्दर थे। इसलिए राक्षस को मारने के लिए तोते की गर्दन मरोड़ दी और राक्षस खत्म हो गया। उसी प्रकार से जिन लोगों के प्राण राज्य में थे, वहाँ राज्य खत्म होते ही राष्ट्र का प्राण भी नि:शेष हो गया। किन्तु जिन राष्ट्रों ने यह माना, जैसा हमने माना, कि हमारा प्राण राजय में नहीं है, वहाँ राज्य जाने के बाद भी राष्ट्र नहीं गया।

राज्य के प्रति हमारी उदासीनता हमे घातक रही

इस धारणा के कुछ दुष्परिणाम भी हुए है। स्व. बाबासाहब अम्बेडकर ने बताया कि हमारे यहाँ पंचायतें इतनी मजबूत थीं कि हम दिल्ली के तख्त के सम्बन्ध में उदासीन हो गये। राज्य के प्रति जितना सचेत व सर्तक हमें रहना चाहिए था, हम रहे नहीं, क्योंकि हमे लगा कि हमारा प्राण उसमें नहीं है। परन्तु हम भूल गये कि चाहे वहाँ प्राण नहीं होगा परन्तु उसका इतना महत्व तो जरूर है जितना महत्व शरीर के किसी अन्य अंग का होता है। शरीर का एक बाल काट लीजिए तो नुकसान नहीं होता, काटा जा सकता है। परन्तु बाल काटते-काटते थोड़ी-सी खाल भी काट ली और साथ में सिर को भी काटने का प्रयत्न किया तो नुकसान हो जाएगा। इसलिए शरीर की तो रक्षा करने ही पड़ेगी। शरीर में ये भिन्न-भिन्न अंग सर्वसव नहीं होगे, किन्तु महत्व के हैं। इस दृष्टि से राज्य को महत्व देना चाहिए था और ऐसे लोग पैदा हुए जिन्होंने ध्यान दिया। आखिर छत्रपति शिवाजी इसीलिए हुए व स्वामी रामदास ने छत्रपति शिवाजी महाराज को इसीलिए कहा कि 'अपना राज्य चलाओ।' धर्म में पूर्ण शक्ति है, वह महत्व की चीज है। इसलिए धर्म को लेकर के जैसे वे स्वयं धर्मप्रचार में लगे थे, उसी प्रकार वे छत्रपति शिवाजी महाराज को भी सन्यासी बना देते। किन्तु उन्होंने ऐसा न करते हुए राज्य प्राप्ति की ही प्रेरणा दी। कारण राज्य भी एक महत्वपूर्ण संस्था है। किन्तु महत्व की बात मानना एक चीज है तथा उसे सर्वोपरी मानकर चलना दूसरी बात है। राज्य सर्वोपरि नहीं है। किन्तु प्रश्न पैदा होता है कि यदि राज्य सर्वोपरि नहीं तो सर्वोपरि क्या है? कौन-सी चीज सर्वोपरि है। इसका विचार करें। इसके लिए, राज्य की उत्पत्ति क्यों हुई? इसका विचार करना होगा।

धर्म ही राज्य का प्राण है

यह तो सभी मानते हैं कि राज्य का कोई न कोई लक्ष्य होना चाहिए, उसका आदर्श होना चाहिए। अत: सर्वोपरिता राज्य की नहीं, आदर्श की होना चाहिए। पहरेदार खजाने से बड़ा नहीं हो सकता, कोष की तुलना में कोषाध्यक्ष छोटा ही माना जायेगा। राज्य, राष्ट्र की रक्षा के लिए पैदा होता है।, राष्ट्र के आदर्शों को व्यवहार में लाने या लाने की अवस्था पैदा करने तथा बनाये रखने के लिए राज्य पैदा होता है। राष्ट्र का आदर्श अर्थात् 'चिति' गहन है। इसकी अभिव्यक्ति और व्यवहार के नियमों को ही उस राष्ट्र का धर्म कहते हैं। अत: महत्ता यदि किसी चीज की है तो वह 'धर्म' की है। यदि हमारा प्राण कहीं है तो वह धर्म में है। धर्म गया कि प्राण गया। इसलिए जिसने धर्म छोड़ा, राष्ट्र से ज्युत हो गया। उसका सब कुछ चला गया।

'धर्म',रिजीजन या मजहब नहीं होता

धर्म का सम्बन्ध केवल मन्दिर, मस्जिद से नहीं है। उपासना, व्यक्ति-धर्म का एक अंग हो सकती है, किन्तु धर्म तो व्यापक है। मन्दिर, मस्जिद लोगों में धर्माचरण की शिक्षा का प्रभावी माध्यम भी रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार विद्यालय विद्या नहीं है, वैसे ही मन्दिर धर्म से भिन्न है। हो सकता है कोई बालक राज पाठशाला जाय, फिर भी अपढ़ रह जाय। उसी प्रकार प्रतिदिन मस्जिद या मन्दिर में जाने वाला व्यक्ति भी धर्महीन हो सकता है। मन्दिर, मस्जिद में जाना-मत, मजहब, रिलीजन है। रिलीजन को बहुत बार लोगों ने धर्म मान लिया। अँग्रेजी से अनुवाद के कारण हमारी जो बहुत-सी हानियाँ हुई हैं, उनमें से एक बहुत बड़ी हानि यह हुई है।

एक ओर तो हम रिलीजन को धर्म के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग करने लगे तथा दूसरी ओर अपने धर्म और जीवन का अज्ञान तथा यूरोपीय जीवन का आधिकारिक ज्ञान हमारी शिक्षा का विषय बन गया। फलत: रिलीजन के जितने सहचारी भाव हैं, वे हमने धर्म पर आरोपित कर

दिये। यदि यूरोप में रिलीजन के नाम पर अन्याय और अत्याचार, संघर्ष और युद्ध हुए तो वे सब हमारे यहाँ भी धर्म के खाते में नामे चढ़ा लिये गये। हमे लगा कि धर्म पर भी लड़ाई हो सकती है। परन्तु धर्म की लड़ाई दूसरी है और रिलीजन की लड़ाई दूसरी होती है। रिलीजन यानी मत, पंथ, मजहब, वह धर्म नहीं। धर्म तो एक व्यापक चीज है। यह जीवन के सभी पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाली चीज है। उससे समाज की धारणा होती है। उससे आगे बढ़ें तो सृष्टि की धारणा होती है। यह धारणा करने वाली जो चीज है, वह 'धर्म' है।

धर्म के तत्व सनातन और सर्वव्यापी

धर्म के मूलभूत तत्व सनातन और सर्वव्यापी हैं। हाँ, उनका व्यवहार देश, काल परिस्थिति सापेक्ष होता है। मनुष्य को शरीर धारण के लिए भोजन करना चाहिए, यह नियम शाश्वत है। किन्तु व्यक्ति विशेष को कब, कैसा और कितना भोजन करना चाहिए, यह परिस्थिति सापेक्ष होगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि भोजन नहीं चाहिए। किसी आदमी को टॉयफॉयड हो गया और हमने कहा कि शरीर धारण करने के लिए भोजन चाहिए और उसे भोजन करा दिया तो कठिनाई पैदा हो जायेगी। उस समय 'भोजन नहीं चाहिए' यह नियम लागू करना पड़ेगा। उसे उपवास करना भी आवश्यक हो जायेगा। इस प्रकार धर्म के जो नियम हैं, उनका व्यवहार समय के साथ, युग के साथ बदलता रहता है। इसलिए देश काल के आधार पर इन नियमों का पालन करना चाहिए।

सात्विक व तात्विक आधार पर बने नियम धार्मिक होते हैं

कुछ नियम थोड़ी देर के लिए होते हैं और कुछ नियम बड़ी देर के लिए बने हुए होते हैं। यहाँ की उस सभा के कुछ नियम हैं जिनके आधार पर हम चल रहे हैं। इनमें से एक नियम यह है कि मैं बोलूँ और आप शान्त रहकर सुनें। आप यदि इस नियम का उगंघन करने लगें व आपस में बोलने लगें या आप भी खड़े होकर बोलने लगें तो कहना होगा कि हम अपने धर्म से %युत हो जाएँगे। धर्म का पालन नहीं करेंगे, हमारी धारणा नहीं होगी, हमारा काम नहीं चलेगा, कठिनाई हो जायेगी। अत: हमारा धर्म है उस नियम का पालन करना जिससे इस सभा की धारणा होती है, सभा टिकती है, सभा चलती है। परन्तु ये नियम तब तक लागू हैं जब तक कि सभा है। सभा समाप्त होने पर, घर जाकर भी आपने नहीं बोला तो कठिनाई पैदा हो जायेगी। घर के लोगों को डॉक्टर बुलाना पड़ेगा। घर जाकर वहाँ के नियमों का पालन करना आवश्यक है। नियमों की सम्पूर्ण संहिता और उसके तात्विक आधार का नाम धर्म है। ये नियम मनमाने नहीं हो सकते। उनसे उस सत्ता की धारणा होनी चाहिए जिसके लिए वे बने हैं तथा वे दूसरी सत्ता के अविरोधी एवं पोषक होने चाहिए। यदि हम कोई रजिस्टर्ड सोसायटी के उपनियम बनाएं। पर ये उपनियम सोसायटी के नियमों और विधान के प्रतिकूल नहीं हो सकते। सोसायटी के नियम और विधान रजिस्टर्ड सोसायटीज एक्ट के विरुद्ध नहीं हो सकते। एक्ट को संविधान के अनुकूल होना आवश्यक है अर्थात संविधान वह कानून है जिसके अनुसार देश के सभी कानून बनने चाहिए। जर्मनी में संविधान को बेसिक लॉ कहते हैं। किन्तु क्या संविधान भी किन्हीं नियमों का पालन करता है? अथवा वह संविधान सभा की मनमानी का द्योतक है? गम्भीरता से विचार करें तो पता चलेगा कि संविधान को भी कुछ आधारभूत प्राकृतिक नियमों का अनुकरण करना पड़ता है। संविधान राष्ट्र की धारणा के लिए है। यदि वह राष्ट्र की धारणा के स्थान पर उसकी हानि करने वाला हो तो वह गलत होगा, उसका संशोधन करना होगा। क्या यह संशोधन भी मनमाना अथवा दो-तिहाई बहुमत की इच्छा पर निर्भर करेगा? आजकल बहुमत की बहुत चर्चा की जाती है। क्या बहुमत सब कुछ कर सकता है? क्या जनता, जिसे प्रभुसत्ता सम्पन्न कहा जाता है, सब कुछ कर सकती है? और वह न्याय होना चाहिए? नहीं। पश्चिम में पहले राजा सॉवरेन (सर्वप्रभुता सम्पन्नों) होता था। बाद में जब राजाओं के विरुद्ध विद्रोह हुआ तो जनता की सॉवरेनिटी (सर्व प्रभुत्वता का सिद्धांत रख गया। किन्तु हमारे यहाँ जनता भी सॉवरेन नहीं है। यहाँ राजा सावरेन नहीं है। पार्लियामेण्ट सब कुछ नहीं कर सकती। इंग्लेण्ड की पार्लियामेण्ट के बारे में कहते हैं कि वहाँ की पार्लियामेंण्ट सॉवरेन है और सब कुछ कर सकती है। उन्होंने कहा कि "वह स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री को बनाने के अतिरिक्त अन्य सब कुछ कर सकती है" परन्तु क्या इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट यह नियम कर सकती है कि इंग्लैण्ड का प्रत्येक व्यक्ति सिर के बल चले ? नहीं बना सकती। क्या इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट यह कानून बना सकती है कि इंग्लैण्ड का हर व्यक्ति रोज पुलिस थाने मे आकर हाजिरी लिखावे? नहीं, यह भी नहीं कर सकती। इंग्लैण्ड का कोई लिखा हुआ संविधान नहीं है। वे अपने यहाँ परम्परा की

अत्यधिक महत्व देते हैं। पर क्या है उनकी परम्पराओं मे परिवर्तन नहीं हुआ? हुआ है। उनका आधार क्या है? तो जो परम्परा इंग्लैण्ड के विकास मे बाधक हुई, उसको उन्होंने छोड़ दिया। जो सहायक हुई, वह पुष्ट होती गई।

परम्पराओं का महत्व ब्रिटेन में ही नही, हर देश में होता है। हमारे यहाँ लिखित संविधान है यह लिखित संविधान भी देश की परम्पराओं का विरोध करके नहीं चल सकता। अगर उन परम्पराओं को विरोध करके चलता है तो वह संविधान धर्मानुसार नहीं बना। धर्मानुसार वह संविधान होगा जिससे राष्ट्र की धारणा हो। धारणा धर्म से होती है। इसलिए हमारे यहाँ धर्म सर्वप्रभु सत्ता सम्पन्न है। अन्य सभी संस्थाएँ, सत्ताएँ और इकाईयाँ उसी से शक्ति ग्रहण करती हैं।

संविधान की एक तात्विक भूल

यदि भारत के वर्तमान संविधान का विचार राष्ट्र की धारणा के मापदण्ड से करें तो हमें पता चलेगा कि उसमें संशोधन की आवश्यकता है। हमारा एक राष्ट्र है, हम एक जन हैं। इसलिए हमने भाषा, प्रान्त, जाति, मजहब आदि के आधार पर मूलभूत अधिकारों में किसी भी भेद-भाव को स्वीकार नहीं किया। हमने एक नागरिकता का सिद्धांत माना है। अलग-अलग प्रान्त होने के बावजूद भी अमेरिका की भाँति यहाँ राज्य और संघ की अलग-अलग नागरिकता नहीं है। हम सब भारत के नागरिक हैं। इसी प्रकार हमने राज्यो को संघ से निकल जाने का अधिकार नहीं दिया है। इतना ही नहीं तो इन राज्यों की सीमाएँ और नाम क्या हों? यह निर्णय संसद ही सकती है, राज्यों के विधानमण्डल नहीं। ये सब ठीक प्रावधान हैं। भारत की राष्ट्रीयता और परम्परा के अनुकूल हैं। किन्तु इतना होने पर भी हमने संविधान को संघात्मक बनाया है अर्थात जो बात व्यवहार में रखी है, वह तत्वत: अमान्य कर दी है। संघात्मक प्रणाली में इकाइयां की निजी सत्ता और प्रभुता होती है। वे एक समझौते के अनुसार (यहाँ पर संविधान वह समझौता है) अपने अधिकार केन्द्र या संघ को सौंप दे। देती हैं। हो सकता है कि ये इकाईयाँ अपने सम्पूर्ण अधिकार केन्द्र को सौंप दें, इस तरह संघ अधिक अधिकार सम्पन्न हो सकता है। किन्तु उसके सभी अधिकार उसे मिले हुए तथा सौंपे हुए रहते हैं। ऐसा कोई अधिकार नहीं जो उसका अपना ही हो। इस विचार से संविधान भारत के प्रान्त की सत्ता को मूलभूत मानता है और केन्द्र को राज्यों का समूह मात्र। यह सत्य के विपरीत है, भारत की एकता और अखण्डता की धारणा का विरोधी है। इसमें भारत माता की जीवमान चैतन्यमयी कल्पना नहीं। संविधान के प्रथम अनुच्छेद के अनुसार ''इण्डिया अर्थात भारत एक राज्यों का संघ होगा। अर्थात् बिहारमाता, बंगमाता, पंजाबमाता, कन्नडमाता, तमिलमाता आदि माताओ को मिलाकर भारत माता बनेगी। यह हास्यास्पद कल्पना है। हमने प्रान्तों की कल्पना भारत माता के अंगों के रूप में की है। अलग-अलग माताओं के रूप मे नहीं। अत: हमारा संविधान संघात्मक न होकर एकात्मक होना चाहिए।

एकात्मक राज्य का स्वरूप

एकात्मक राज्य का मतलब सारी ताकत या अधिकारों का केन्द्रीकरण नहीं है। जैसे घर में जो मुखिया होता है, संपूर्ण कामकाज उसके नाम पर चलता है, परन्तु सारी ताकत मुखिया के पास नहीं होती। ताकत तो बाकी लोगों के पास रहती है। आत्मा के आधार पर सब कुछ चलता होगा, पर क्या आत्मा के पास ताकत रहती है? ताकत तो प्राण के पास है और उसके आधार पर अंगों के पास रहती है। एकात्मक राज्य का मतलब हाइली ऑटोक्रेटिक (अत्यन्त स्वेच्छाधारी राज्य नहीं और न इसका अर्थ है कि प्रान्त समाप्त कर दिये जाएँ) प्रान्तो को अधिकार रह सकता है, रहेगा बल्कि इन प्रान्तों के नीचे बाकी जो संस्थाएँ हैं जैसे कि जनपद है, उनका भी अधिकार रहेंगे। इस प्रकार पंचायतों को अधिकार चाहिए। हमारी परम्परा में पंचायतों का बहुत ऊचा स्थान है। पंचायतो को भी कोई नष्ट नही कर सकता था किन्तु आज हमारी इन पंचायतों का स्थान हमारे संविधान में नही हैं। पंचायतों की कोई अपनी सत्ता नहीं है। पंचायतें तो केवल प्रदत्त सत्ता के नाते से और राज्य सरकारों की कृपा से पैदा होती है। आवश्यकता है उनकी स्वयंभू सत्ता स्वीकार की जाए। इस प्रकार से सत्ता का विकेन्द्रीकरण होगा। शक्ति नीचे तक जायेगी। शक्ति के कई स्थान होंगे। किन्तु इन सबका एक केन्द्र इस नाते से हमारा यह एकात्मक राज्य होगा। यह हमारे धर्म के अनुसार होगा।

धर्म की परिधि मे सम्पूर्ण मानवता सन्निहित

धर्म की इस कल्पना को और आगे ले जाएँ तो केवल राज्य और राष्ट्र का ही नहीं, मानव की प्रकृति का भी विचार करना होगा। अर्थात राष्ट्र का

संविधान प्राकृतिक न्याय के प्रतिकूल नहीं हो सकता। ऐसे बहुत व्यवहार जिनके नियम किसी कानून में लिखे नहीं होते, परन्तु होते वे अवश्य है। शायद ये नियम कानूनों से भी अधिक प्रभावी और बन्धककारक होते हैं। अपने माता-पिता का आदर करना चाहिए, यह किसी कानून मे नहीं लिखा। आजकल की सरकारें, जो बड़ी तेजी से तरह-तरह के कानून बना रही हैं, उन्होंने भी इस विषय में कोई कानून नहीं बनाया। इतने कानून बनने के बाद भी ऐसा कोई कानून नहीं बना कि माता-पिता का आदर करो और कहना मानो। फिर भी माता-पिता का आदर करते हैं। न करने वालों को कोई अच्छा नहीं कहता, उन्हें बुरा माना जाता है। कल ऐसा ही कोई सवाल आ करके खड़ा हो जाये और कचहरी में भी सवाल आ करके खड़ा हो जाय, तो वहाँ पर भी सामान्यत: यह मानेंगे कि माता-पिता का, जब तक कि वयस्क होने के कारण उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार न कर लिया हो, कहना मानना चाहिए तथा उनका आदर करना चाहिए।

वैधता का निर्णायक धर्म है

इस प्रकार का कानून या लॉ जो आधारभूत, प्राकृतिक एवं आदिरूप है, वही सब वस्तुओं और व्यवहार की नियमानुकूलता तथा वैधता का निर्णायक है। इस लॉ को ही हमारे यहाँ धर्म कहा गया है। श्प्ददंजम सूंश् धर्म का निकटतम पर्याय हो सकता है किन्तु फिर भी वह धर्म के पूरे भाव को प्रकट करने मे असमर्थ है। धर्म की प्रभुता होने के कारण हमारा राज्य का आदर्श 'धर्मराज्य' है। राजा धर्म की रक्षा करने के लिए है। जब पुराने जमाने मे राजा का अभिषेक हुआ करता था तो वह खड़ा होकर कहता था 'अदण्डयो अस्मि! अदण्डयो अस्मि!! अदण्डयो अस्मि!!!' अर्थात मुझे कोई दण्ड नहीं दे सकता। वही बात जो पश्चिम का राजा कहा करता था। वहाँ भी राजा कहता था कि राजा कोई गलती नही कर सकता, इसलिए राजा को कोई दण्ड नहीं दे सकता। राजा के यह कहने पर पुरोहित हाथ में एक पलाश का दण्ड लेकर के उसकी पीठ पर मारता था और कहता था, 'नहीं नहीं धर्मदण्डयोअस्ति' कि तेरे ऊपर यह दण्ड है, यह धर्म का दण्ड है, तू 'अदण्डय' नहीं है। राजा भागता तथा वेदी की परिक्रमा करता और पुरोहित उसकी पीठ पर पलाश का दण्ड मारता जाता था। तीन चक्कर लगाने के बाद यह विधि समाप्त होती थी। उसे मालूम हो जाता था कि उसके ऊपर भी धर्म का दण्ड है। राजा अदण्ड्य नहीं - सॉवरेन नहीं।

इसी प्रकार जनता भी मनमानी कर सकती है क्या? तो लोग कहेंगे कि हाँ! जनतंत्र का मतलब यही है कि जनता चाहे जो करें। किन्तु हमारे यहाँ जनता चाहे भी तो अधर्म नहीं कर सकती। एक बार धर्मप्रचारक से लोग सवाल पूछ रहे थे। उनका कहना था कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, सब-कुछ कर सकता है। एक स%जन ने कहा, नहीं ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो क्या ईश्वर अधर्म कर सकता है? समस्या आ गई कि कैसे कहे? क्या यह कहा जाय कि ईश्वर अधर्म नहीं कर सकता। यदि करेगा तो सर्वशक्तिमान नहीं रहेंगी। अधर्म शक्ति का नही दुर्बलता का घोतक है। आग अगर बुझने लगेगी तो शक्तिशाली नहीं रहेगी। शक्ति मनमानी करने मे नहीं, संयमपूर्ण व्यवहार में है। अत: सर्वशक्तिमान परमेश्वर सम्पूर्ण संयमी अर्थात् पूर्ण धर्ममय है। ईश्वर जब जन्म लेता है तो मनमानी करने के लिए नहीं, वरन् धर्म के लिए होता है। इसलिए ईश्वर भी सब-कुछ कर सकता है परन्तु अधर्म नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर भी सब-कुछ कर सकता है परन्तु अधर्म नहीं कर सकता। यदि बुरा न लगे तो कह सकते है कि ईश्वर से भी बड़ा धर्म है। वह धर्म से चलता है। इसलिए सृष्टि चलती है। राजा धर्म-राज्य के प्रमुख के नाते ही विष्णु है।

क्या धर्म-राज्य का भी अर्थ थ्योक्रेटिक स्टेट है?

धर्मराज्य का अर्थ थ्याक्रेटिक स्टेट नहीं है। इसे अच्छी प्रकार से समझ लें। थ्योक्रेटिक स्टेट यानी जहाँ पर किसी भी पंथ-गुरू का राज हो। एक पंथ के लोगों को सब अधिकार हों और अन्य पंथावलम्बी या तो रह ही न सकें अथवा गुलाम या दूसरे दर्जे के नागरिक बनकर रहें। रोमन साम्राज्य इसी आधार पर चलता था। 'खिलाफत' के पीछे भी यही कल्पना थी। खलीफा के नाम पर ही दुनिया भर के मुसलमान बादशाह राज्य करते थे। किन्तु यह 'खिलाफत' प्रथम विश्वयुद्ध के बाद खत्म हो गई। अब इसे पुन: पैदा करने की कोशिश की गई है। पाकिस्तान में एक नई थ्योक्रेटिक स्टेट बनी है। वे अपने को इस्लामी राज्य कहते हैं। वहाँ मुसलमानों को छोड़कर बाकी जितने लोग हैं, वे दूसरे दर्जे के नागरिक हैं। इसके अतिरिक्त इस्लामी हुकूमत का और कोई रूप तो वहाँ नहीं दीखता। कुरान, मस्जिद, रोजा, ईद नमाज आदि जैसी वहाँ है, वैसी हिन्दुस्थान में भी है अर्थात् राज्य और मजहब को जोड़ने की

आवश्यकता नहीं। इससे व्यक्ति का ईश्वर की उपासना करने का सामर्थ्य नहीं बढ़ता। हाँ, राज्य अपने कर्त्तव्यों से ज्युत हो जाते है। धर्मराज्य में यह नहीं होता, अपितु प्रत्येक को अपने मजहब की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। थ्योक्रेटिक स्टेट में एक पंथ को स्वतंत्रता की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। थ्योक्रेटिक स्टेट मे एक पंथ को स्वतंत्रता और दूसरों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बन्धन रहते हैं। धर्मराज्य व्यक्ति के विकास, उसके सुख और शान्ति में मजहब का स्थान स्वीकार करता है। इसलिए राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसी अवस्थाएँ पैदा करे जिसमें व्यक्ति अपने मतानुसार जीवनयापन कर सके। अपने मत को मानने की स्वतं्त्रता में दूसरे के मत के प्रति सहिष्णुता स्वयमेव आती है।

हम जानते हैं कि हर प्रकार की स्वतंत्रता की अपनी मर्यादाएँ होती हैं। मुझे हाथ घुमाने की स्वतंत्रता है, किन्तु जैस ही किसी दूसरे व्यक्ति की नाक और मेरे हाथ मे संघर्ष आया कि मेरी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। मुझे इतनी स्वतंत्रता नहीं कि अपना हाथ घुमाकर दूसरे की नाक पर मुक्का लगा दूँ। जहाँ उसकी नाक की नोक शुरू हुई कि मेरी स्वतंत्रता खत्म हो जाती है। दोनों की स्वतंत्रता की रक्षा करनी होगी। वैसे ही प्रत्येक को अपने मजहब की स्वतंत्रता है। किन्तु मजहब की स्वतंत्रता वहीं तक है जहां तक वह दूसरे के मजहब में दखल न दे। अगर दूसरे के मजहब में दखल देता है तो कहना होगा कि वह स्वतंत्रता का दुरूपयोग है। इस प्रकार की मर्यादाएँ हर जगह पर रहेंगी। धर्मराज्य में मजहब की स्वतंत्रता है, पर थ्योक्रेटिक स्टेट में नही।

आजकल थ्योक्रेटिक स्टेट के विरुद्ध 'सेक्यूलर स्टेट' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द पश्चिम के लोगों से नकल करके लिया है। हमें इसकी जरूरत नहीं थी। पाकिस्तान से अलग बताने के लिए पेज 56 और 57 था। कुछ लोग खड़े हुए थे। कुछ क्रान्तिकारी खड़े हुए। कुछ वीर खड़े हुए। उन्होंने लड़ाई लड़ी। लोकमान्य तिलक ने कहा था कि स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। यह जन्मसिद्ध अधिकार उन्होंने बहुमत के समर्थन पर नहीं कहा था। आजकल तो लोग कहते है कि गोवा का भविष्य जनमत संग्रह से तय कर लो, कश्मीर में जनमत संग्रह कराओ आदि। यह गलत है। राष्ट्रीयता एकता हमारा धर्म है। उसका निर्णय मतसंग्रह से नहीं होगा। यह निर्णय तो प्रकृति ने कर दिया है। शासन कौन चलाये? यह तो एक बार बहुमत और चुनाव से तय हो सकता है। परन्तु सत्य क्या है, यह कभी बहुमत से तय नहीं होता। राजा कौन बनेगा? यह बहुमत से तय होता है, पर राजा क्या करेगा? यह धर्म से तय होता है।

बहुमत को चुनौती

आप जानते हैं कि अमरीका में, जहाँ प्रजातंत्र का बहुत बोलबाला कहा जाता है, वहाँ पर लिंकन ने गलत जनमत को स्वीकार नहीं किया। लिंकन से जब दक्षिणी राज्यों ने कहा कि हम अलग हो जाते हैं क्योंकि लिंकन ने वहाँ दास-प्रथा को समाप्त कर दिया, तो उस समय लिंकन खड़ा हुआ और लोगो से कहा ''यह आपको डेमोक्रेटिक अधिकार नहीं कि आप अलग हो जाइये।'' लिंकन ने लड़ाई लड़ी परन्तु उन्हे अलग नही होने दिया। दास-प्रथा को भी नहीं चलने दिया। यह नहीं कहा कि यदि आप दास प्रथा मान लेते हैं तो समझौता कर लेते है और समझोते द्वारा थोड़ी-थोड़ी दास प्रथा रहेगी ओर थोड़ी थोड़ी नहीं। ऐसा भी उन्होंने नहीं कहा कि ''आधा तेरा, आधा मेरा।'' उन्होंने कहा कि अमरीका की जो परम्परा है, यहाँ का जो धर्म है, प्रकृति है, जिस आधार पर राष्ट्र-निर्माण का प्रयत्न किया जा रहा है, दास-प्रथा उसके प्रतिकूल है। इसलिए दास-प्रथा नहीं रहेगी। जब लोगों ने कहा- हम अलग होते हैं, तो उन्होंने कहा- ''तुम अलग भी नहीं होओगे।'' इस पर वहाँ गृहयुद्ध हुआ परन्तु लिंकन ने अधर्म के साथ समझौता नहीं किया।

हमारे यहाँ ऐसी व्यवस्था है। जैसे पुराने हिन्दू विवाह में पति- पत्नी का संबंध उनकी मर्जी पर निर्भर नहीं करता। एक क्या यदि दोनों भी राजी हो जाएँ तो भी वे तलाक नहीं दे सकते। उनका आचरण मर्जी से नहीं, धर्म से नियन्त्रित होना चाहिए। इसी प्रकार राष्ट्रीयता का नाता है। कश्मीर के 40 लाख लोग कहें कि हम अलग होते हैं, गोवा के कहें कि हम अलग होते हैं - कुछ ने कहा कि हम पुर्तगाल को वापस बुला लेंगे तो यह धर्म के प्रतिकूल है। हिन्दुस्तान के 45 करोड़ लोगों में से यदि 44 करोड 99 लाख 99 हजार 999 लोग भी ऐसा कहें, जो धर्म के प्रतिकूल बात होगी, तो वह कभी सत्य नही होगी और यदि इसके विपरीत एक व्यक्ति कहेगा और यदि वह धर्मानुसार है तो वह सत्य होगी क्योंकि सत्य धर्म के साथ रहता है। उस एक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है कि इस सत्य के आधार पर वह चले तथा लोगों को बदले। उसी में से उस एक

व्यक्ति को धर्मांचरण का, धर्म का, धर्म के अनुसार काम करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

धर्म किसी निकाय अथवा संस्था में नहीं

हम अच्छी तरह समझ लें कि बहुमत में या जनता में धर्म नहीं है। धर्म शाश्वत है। इसीलिए प्रजातंत्र की व्यवस्था में जनता का शासन ही पर्याप्त नहीं, यह शासन जनता के हित में भी होना चाहिए। जनता के हित का निर्णय तो धर्म ही कर सकता है। अत: जनराज्य को धर्मराज्य भी होना आवश्यक है। सच्चा प्रजातंत्र वहीं हो सकता है जहाँ स्वतंत्रता और धर्म दोनों हों। धर्मराज्य में इन सभी कल्पनाओं का समावेश हो सकता है।

राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थ-रचना

प्राचीन साहित्य में कहीं-कहीं जहाँ राजा का वर्णन किया गया है और राजधर्म का उसको उपदेश दिया गया है, वहाँ उसे अत्यन्त महत्वशाली अवश्य बताया गया है। यह शायद इसलिए कि उसे अपने कर्त्तव्य का भान रहे, अपने दायित्व की जानकारी हो। वह सम्पूर्ण समाज जीवन के ऊपर प्रभाव डालने वाला व्यक्ति है। उसे अपने ऊपर पूरा ध्यान देना चाहिए। महाभारत मे भीष्म ने यही बात कही ''राजा काल का कारण है अथवा काल राजा का कारण है?'' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने बिल्कुल निश्चयात्मक रूप से बतलाया ''राजा कालस्य कारणम्'', कि राजा ही काल का कारण है। अब इसमें से कुछ लोग यह निष्कर्ष निकाल लेते है कि उन्होने राजा को सर्वोपरि माना है, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। भीष्म ने राजा को इतना महत्व देते हुए भी विधि से ऊपर नहीं बताया। राजा का प्रभाव होता है, यह सत्य है और राजा, समाज मे धर्म रहे, इस बात को देखने की जिम्मेदारी लेकर चलता है, यह भी सत्य है। किन्तु राजा धर्म का निमार्ण करने वाला नहीं होता। धर्म का लोग पालन करें, यही बात वह देखने वाला है। यानि एक प्रकार से कहा जाय तो राजा का स्थान उतना ही है, जितना आज के समय मे कार्यपालिका का होता है।

कार्यपालिका का दायित्व

कार्यपालिका आज भी कानून नहीं बनाती, परन्तु राज्य ठीक प्रकार से चले यह जिम्मेदारी कार्यपालिका पर होती है। अगर कार्यपालिका ठीक न चले तो कानून की कैसी धज्जियाँ उड़ती हैं, यह आज हम अच्छी तरह से देख रहे है। आज भी हम कह सकते हैं, 'कार्यपालिका कालस्य कारणम्' कि आज जो बुराइयाँ चल रही हैं, उसमे कार्यपालिका की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। आखिर नशाबन्दी क्यों असफल हो गई हैं? यहाँ उसके लिये कौन जिम्मेदार है? जिन लोगों पर इस बात का दायित्व डाला गया कि नशाबन्दी के कार्यक्रम को सफल बनाओ, जब उन्होने ही हफ्ता लेना शुरू कर दिया तो नशाबन्दी चलेगी कहाँ से ? उसके लिए जिम्मेदारी कार्यपालिका पर आती है। इसी जिम्मेदारी के रूप मे भीष्म की उपर्युक्त उक्ति है। उसमें से उसमें से यह निष्कर्ष निकालना गलत है कि हमने राजा को ही सर्वप्रभुतासम्पन्न माना है। अगर ऐसा होता तो फिर अत्याचारी राजा वेणु को राज्यसिंहासन से हटाकर पृथु को गददी पर बिठाने का काम गषियों ने न किया होता। गषियों के इस कार्य को किसी भी शास्त्र ने, किसी इतिहास ने बुरा नहीं कहा, बल्कि अच्छा ही कहा। धर्म का प्रभुता स्वीकार करने पर ही गषियों को अधर्मी राजा का हटाने का अधिकार प्राप्त होता है, अन्यथा राजा का हटाना अवैध माना जाता। यदि राजा अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो राजा को हटाना धर्म है। किन्तु पश्चिम में एक राजा को दूसरे राजा ने संघर्ष करके हटाया या जनता ने उस समय हटाया जब उन्होने तत्वत: राजपद्धित कर अमान्य का दिया। वहाँ राजा ईश्वर का प्रतिनिधी है, और किसी भी परिस्थिति में नहीं हटाया जा सकता।

समाज व्यवस्था में अनेंक संस्थाएँ

राजा या राज्य सर्वोपरि तो है ही नहीं, वह एकमेव संस्था भी नहीं है। समाज की व्यवस्था तथा उसके जीवन का नियमन करने वाली, समाज की व्यवस्था देखने वाली, अनेक संस्थाएँ हैं। उनका प्रादेशिक और व्यावसायिक दोनों आधारों पर गठन हुआ है। पंचायते और जनपद सभाएँ हमारे यहाँ रही हैं। बडे-से-बडे चक्रवर्ती सार्वभौम राजा ने भी कभी पंचायतों को समाप्त नहीं किया। इसी प्रकार व्यवसायिक संगठन भी रहे है। उन्हें भी किसी ने समाप्त नहीं किया, अपितु उनकी स्वायत्तता को स्वीकार किया गया। अपने-अपने क्षेत्र में उन्होंने नियम बनाये। जाति की पंचायतें, श्रेणियाँ, पूरा, निगम, ग्राम पंचायतें, जनपद सभाएँ आदि संस्थाएँ नियम बनाती थीं। राज्य का काम यही था कि इन नियमों का पालन होता है कि नहीं, यह देखे। राज्य ने कभी उनके मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया। इस प्रकार हमारे यहाँ राज्य तो जीवन के थोड़े से हिस्से को

छूता था।

इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक संस्थाएँ जन्म लेती हैं। इस दृष्टि से हमें आज कुछ अर्थव्यवस्था का भी विचार करना पड़ेगा। अर्थव्यवस्था कैसी हो? हमें ऐसी व्यवस्था चाहिए जो हमारे मानवत्व को विकसित कर सके, हमारे मानवत्व को समाप्त न करें, उसके ऊपर प्रतिकूल प्रभाव न डाले और जिसके द्वारा हम मानव से ऊँचे उठकर देवत्व को प्राप्त कर सकें। क्योंकि हमारे यहाँ पर मानव जीवन का पूर्ण विकास उसका देवत्व के रूप मे आविर्भाव ही माना गया है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अर्थव्यवस्था की क्या मर्यादाएँ होनी चाहिए, इसका विचार करें।

अर्थव्यवस्था की मर्यादाएं

लोगों के भरण-पोषण के लिए, जीवन के विकास के लिए और राष्ट्र की धारणा और विकास के लिए जिन मौलिक साधनो की आवश्यकता होती है, उनका उत्पादन अर्थव्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए। न्यूनतम मर्यादा के बाद और अधिक समृद्धि एवं सुख के लिए अर्थोत्पादन करना चाहिए या नहीं, यह स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है। पश्चिम का अर्थशास्त्र तो इच्छाओं को बराबर बढ़ाते जाना और उनकी आवश्यकताओं की निरन्तर पूर्ति करना ही अभीष्ट समझता है। इस विषय में उसकी कोई अधिकतम मर्यादा नहीं है। सामान्यता तो पहले इच्छा होती है और फिर उसकी पूर्ति के साधन जुटाये जाते हैं। किन्तु अब तो हालत यह आ गई है कि जो कुछ पैदा किया जाता है, उसका उपयोग हो इसके लिए लोगों में इच्छा पैदा की जाती है। बाजार के लिए माल पैदा करने के स्थान पर पैदा किये हुए माल के लिए बाजार ढूँढना, न मिले तो बाजार पैदा करना आज की अर्थनीति का प्रमुख अंग बन गया है। आरम्भ मे उत्पादन उपभोग का अनुसरण करता था, अब उपभोग उत्पादन का अनुचर है।

हम चाय का ही उदाहरण लें। चाय की माँग थी, इसलिए चाय नहीं पैदा की गई। किन्तु चाय पैदा की गई और इसलिए हमें पीना सिखाई गई। हम जब चाय पीते हैं। वह हमारे जीवन का एक अंग बन गई है। इसी प्रकार हम आजकल वनस्पति तेल का उपयोग कर रहे हैं। क्या हमने कभी इसकी माँग की थी? वास्तव मे वनस्पति तेल पैदा किया गया, और फिर हमें उसका उपभोग सिखाया गया। जो कुछ पैदा होता है यदि उसका उपभोग न करें तो वहाँ पर मन्दी आ जावेगी। 1930-1932 की मन्दी का जमाना हमे याद होगा। उस समय माल तो था पर उसकी खपत नहीं थी, इसलिए धड़ाधड़ कारखाने बन्द होते जाते थे। दिवाले निकल रहे थे तथा बेकारी बढ़ती जाती थी। इसलिए आज महत्व की वस्तु यह हो गई है कि पैदा माल की खपत हो जाये।

अँग्रेजी के साप्ताहिक 'ऑर्गनाइजर' के सम्पादक कुछ वर्ष पूर्व अमरीका गये थे। वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने एक मजेदार घटना बताई। वहाँ आलू छीलने का चाकू बनाने का एक कारखाना है। उस कारखाने का उत्पादन इतना बढ़ गया कि लोगों की आवश्यकता से ज्यादा पैदा करने लगा। अत: प्रश्न पैदा हुआ कि लोग चाकू अधिक संख्या में खरीदें, इसका कोई तरीका ढूँढा जाय। कारखाने के सेल्समैनों की बैठक हुई। एक सुझाव रखा गया कि यदि चाकू के बेंट का रंग आलू के छिलके जैसा ही बनाया जाय तो आलू छीलने के बाद छिलके के साथ चाकू को भी कूड़े की टोकरी में फेंकने की सम्भावना बढ़ जाएगी। इस प्रकार माल की अधिक खपत होगी। चाकू को आकर्षक बनाने के लिए सुन्दर पैकिंग की भी व्यवस्था की गई। अब यह अर्थव्यवस्था उपभोग-प्रधान न होकर विनाशोन्मुख है। पुराना फेंको और नया खरीदो। नया खरीदने की चाह उपभोक्ता में पैदा करना, माँग करना नहीं, माँग पैदा करना यही आज अर्थव्यवस्था का लक्ष्य हो गया है।

प्रकृति की मर्यादा न भूलें

किन्तु उत्पादन का संबंध प्राकृतिक साधनों से भी है। यदि अन्धाधुन्ध उत्पादन बढ़ाते गए तो ये प्राकृतिक साधन कब तक साथ देंगे? कुछ लोग यह कहकर समाधान कर देते हैं कि यदि एक प्रकार के साधन समाप्त हो गए तो दूसरी प्रकार की वस्तुओं की खोज हो जाएगी। नये (सब्स्टीटयूट) ढूँढे जा सकते हैं। उनके इस तर्क मे निहित बल को स्वीकार करने के बाद भी यह कहना पड़ेगा कि प्रकृति की सम्पदा अपार होने पर भी इसकी मर्यादा है। यदि बड़ी तेजी के साथ अनावश्यक रूप से हम उसका खर्च करते गए तो एक दिन हमे पछताना पड़ेगा।

प्रकृति का शोषण नहीं, पोषण व दोहन होना चाहिएं

प्रकृति की सम्पदा की मर्यादा की चिन्ता न भी करें तो कम से कम इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा कि प्रकृति में विभिन्न वस्तुओं के बीच एक

परस्परावलम्बी संबंध है। एक-दूसरे के सहारे खड़ी तीन लकड़ियों में से यदि हम एक ही स्थिति में परिवर्तन कर दें तो शेष दो अपने आप गिर जाएंगी। आज की अर्थव्यवस्था और उत्पादन की पद्धति इस सामंजस्य को बड़ी तेजी से बिगाड़ती जा रही है। परिणामत: जहाँ एक ओर हम नई-नई इच्छाओं की पूर्ति के लिए नए-नए साधन ढूँढ रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर नये-नये प्रश्न हमारी सम्पूर्ण सभ्यता और मानवता को समाप्त करने के लिए पैदा होते जा रहे हैं।

हम प्रकृति से उतना तथा इस प्रकार लें कि वह उस कमी को स्वयं पुन: पूरित कर लें। पेड़ से फल लेने में उसकी हानि नहीं होती, लाभ होता है। पर भूमि से अधिक फसल लेने के लोभ में हम ऐसे उर्वरकों का प्रयोग कर रहे हैं, जिनसे कुछ दिनों के बाद उसकी उत्पादन शक्ति समाप्त हो जाती है। आज अमरीका में लाखों एकड़ भूमि इस प्रकार की खेती के कारण ऊसर हो चुकी है। यह विनाशलीला कब तक चलती रहेगी?

कारखानेदार मशीन आदि के लिए घिसाई-निधी (depraciation fund) की व्यवस्था करता है। परन्तु प्रकृति के इस कारखाने के लिए हम किसी भी घिसाई निधी की चिन्ता न करें, यह कैसे हो सकता है। इस दृष्टि से विचार किया जाए तो कहना होगा कि हमारी अर्थ-व्यवस्था का लक्ष्य अमर्यादित उपभोग नहीं अपितु संयमित उपभोग होना चाहिए। सोद्देश्य, सुखी, विकासमान जीवन के लिए जिन भौतिक साधनों की आवश्यकता है, वे अवश्य ही प्राप्त होने चाहिए। भगवान की सृष्टि का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि उतनी व्यवस्था उसने की है। किन्तु जब हम यह समझ कर कि भगवान ने मनुष्य को केवल उपभोग-प्रवण प्राणी बनाया है, और उसके लिए अन्धाधुन्ध उपभोग के लिए ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति खर्च करें, तो यह ठीक नही। इंजिन को चलाने के लिए कोयला चाहिए। किन्तु कोयला खाने के लिए इंजिन नहीं बनाया गया। प्रत्युत हमारा प्रयत्न तो यही रहता है कि कम से कम ईंधन से ज्यादा-से- ज्यादा शक्ति कैसे पैदा हो। यह बचत का दृष्टिकोण है। मानव जीवन के उद्देश्य का विचार करके हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे वह न्यूनतम ईंधन से अधिकतम गति के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सके। यह अर्थव्यवस्था माननी होगी। यह मानव के एक पहलू का विचार न कर उसके पूर्ण जीवन का तथा अंतिम उद्देश्य का विचार करेगी। यह संहारात्मक न होकर सृजनात्मक होगी। यह प्रकृति के शोषण पर निर्भर न रहकर उसके पोषण पर निर्भर रहेगी। शोषण नहीं, दोहन हमारा आधार होना चाहिए। प्रकृति का स्तन्य हमारे लिए जीवनदायी हो, यही व्यवस्था करनी चाहिए।

पश्चिम के घातक आर्थिक नारे

अर्थ-व्यवस्था का यह मानवी उद्देश्य रहा तो आर्थिक प्रश्नों की ओर देखने की हमारी दृष्टि बदल जायेगी। पश्चिम की अर्थव्यवस्था में, वह पूँजीवादी हो या समाजवादी, मूल्य को अत्यन्त महत्व का एवं केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। उसके चारों ओर ही सम्पूर्ण आर्थिक विचार चक्कर लगाता रहता है। एक नैयायिक की दृष्टि से 'मूल्य' संबंधी विश्लेषण का चाहे जो महत्व हो किन्तु उसके आधार पर जो जीवन-दर्शन बने हैं, वे बहुत ही अधूरे, अमानवीय एवं कुछ अंशो में नीतिविहीन भी हैं। एक उदाहरण लें। आजकल नारा लगाया जाता है 'कमाने वाला खायेगा'। सामान्यतया यह नारा कम्युनिस्ट लगाते हैं, किन्तु पूँजीवादी भी इस नारे के मूल मे निहित सिद्धांत से असहमत नहीं। यदि दोनों में झगड़ा हो तो इसी बात का कि कौन कितना कमाता है। पूँजीवादी साहस और पूँजी को महत्व देते हैं और इसलिए खाने मे उनका प्रमुख भाग रहा तो उसे वे उचित ही मानते हैं। दूसरी आरे कम्यूनिस्ट श्रम को ही निर्माणक मानते हैं, इसलिए वे श्रमिक को ही खाने का अधिकार देते हैं। ये दोनों विचार ठीक नहीं हैं। वास्तव में तो हमारा नारा होना चाहिए 'कमाने वाला खिलायेगा' तथा 'जन्मा सो खायेगा'। खाने का अधिकार जन्म से प्राप्त होता है। कमाने की पात्रता शिक्षा से आती है। समाज में जो कमाते नहीं, वे भी खाते हैं। बच्चे, बूढ़े, रोगी, अपाहित सबकी चिन्ता समाज को करनी पड़ती है। प्रत्येक समाज इस कर्त्तव्य का निर्वाह करता है। मानव की सामाजिकता और संस्कृति का मापदण्ड इस कर्त्तव्य के निर्वाह की तत्परता में ही है। इस कर्त्तव्य के निर्वाह की क्षमता पैदा करना ही अर्थव्यवस्था का काम है। अर्थशास्त्र इस कर्त्तव्य की प्रेरणा का विचार नहीं कर पाता। काम तो मनुष्य अपने इस कर्त्तव्य के निर्वाह के लिए करता है, अन्यथा जिनकी भूख मिट गई है वे काम ही नहीं करेंगे।

न्यूनतम स्तर

मानव के नाते भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति किसी भी अर्थव्यवस्था का न्यूनतम स्तर है। रोटी, कपड़ा और मकान मोटे रूप मे इन आवश्यकताओं

की अभिव्यन्जना करते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति को समाज के प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए सक्षम बनाना भी समाज का आधारभूत दायित्व है। और किसी भी प्रकार के अस्वास्थ्य की दशा में व्यक्ति को स्वस्थ बनाने की व्यवस्था करना तथा उसके निर्वाह की व्यवस्था करना भी समाज का काम है। इतना कम से कम जिस राज्य में हो, वही धर्मराज्य है, नहीं तो अधर्म राज्य है। रघुवंश में दिलीप का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है:

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणात् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतव:।।। (124)

(प्रजा के शिक्षण, रक्षण और भरण-पोषण की व्यवस्था के कारण वही उनका वास्तविक पिता था। उनके पिता तो केवल जन्मदाता थे।) जिस भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा है उसकी व्याख्या भी यही है कि 'भरणात् रक्षणात् च'- अर्थात् भरण और रक्षण के कारण वह भरत कहलाता था। उसका यह देश भारत है। इस देश मे भरण-पोषण की गारण्टी न रही तो 'भारत' नाम सार्थक नहीं होगा।

शिक्षा-समाज का दायित्व

बच्चों को शिक्षा देना समाज के अपने ही हित में है। जन्म से मानव पशुवत पैदा होता है। शिक्षा और संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है। जो काम समाज के अपने हित में हो, उसके लिए शुल्क लिया जाए, यह तो उल्टी बात है। कल्पना करें कि कल को शिक्षा शुल्क का बहिष्कार करके अथवा उसे देने मे असमर्थ होने के कारण बच्चे पढ़ना बन्द कर दें। क्या समाज इस स्थिति को सहन करेगा? पेड़ लगाने और सींचने के लिए हम पेड़ से पैसा नहीं लेते। हम तो अपनी ओर से पूँजी लगाते हैं और जानते हैं कि पेड़ के फलने पर हमें फल मिलेंगे ही शिक्षा भी इसी प्रकार का विनियोजन है। व्यक्ति शिक्षित होने पर समाज के लिए काम करेगा ही। किन्तु जो व्यवस्था बचपन से ही हमे व्यक्तिवादी बनाती हो, उसमें समाज की अवहेलना करने वाले निकलें तो आश्चर्य ही क्या? भारत में 1947 से पूर्व सभी देशी राज्यों में कहीं भी शिक्षा का शुल्क नहीं लिया जाता था। उच्चतम श्रेणी तक शिक्षा नि:शुल्क थी। गुरूकुलों में तो भोजन व रहने की व्यवस्था भी आश्रम में ही होती थी। केवल भिक्षा माँगने के लिए ब्रह्मचारी समाज मे जाता था। कोई भी गृहस्थ ब्रह्मचारी को खाली नहीं लौटाता था, अर्थात समाज द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी।

चिकित्सा नि:शुल्क

इसी भाँति चिकित्सा के लिए पैसा देना पड़े, यह अचम्भे की बात है। चिकित्सा भी नि:शुल्क होनी चाहिए। हमारे यहाँ पहले चिकित्सा के लिए पैसा नहीं लिया जाता था। आजकल मन्दिर में जाने के लिए भी पैसा देना पड़ता है। तिरूपति में बालाजी के मन्दिर में दर्शन के लिए 4 आने का टिकट लेना पड़ता है। पर दोपहर में 12 बजे से 2 बजे तक 'धर्मदर्शन' होता है, अर्थात् उस समय टिकट नहीं लेना पड़ता। मानो पैसा देकर दर्शन करना अधर्मदर्शन होता है। कहने का तात्पर्य है कि समाज की ओर से जीवन-यापन और विकास के लिए न्यूनतम की गारण्टी होनी ही चाहिए।

न्यूनतम का जन्मसिद्ध अधिकार

अब प्रश्न यह उठता है कि यह 'न्यूनतम' जो सभी को देना है, वह आएगा कहाँ से? स्पष्ट है कि वह हमारे प्रयत्नों व पुरुषार्थ से ही आना चाहिए। अत: जहाँ हमे अधिकार के रूप में 'न्यूनतम स्तर' मिला है, वहाँ अनुत्पादक कर्म अर्थात् पुरुषार्थविहीन व्यक्ति समाज पर भार है। इसी प्रकार जो समाज-व्यवस्था अथवा अर्थव्यवस्था लोगों के पुरुषार्थ में बाधक हो, वह आत्मघाती है। ऐसी व्यवस्था में समाज व्यक्तियों के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं कर पाएगा। यदि व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ण होती रही तो भी पुरुषार्थ न करने के कारण उनका विकास एकांकी रह जायेगा। मानव को पेट और हाथ दोनों मिले हैं। यदि हाथों को काम न मिले और पेट को खाना मिलता रहे तो भी मनुष्य सुखी नहीं रहेगा। उसका विकास नहीं होगा। निस्सन्तान स्त्री जैसे अपने जीवन में अधूरापन तथा व्यथा का अनुभव करती है, वैसे ही बेकार पुरुषार्थ रहित व्यक्ति अधूरा है।

प्रत्येक को काम

'प्रत्येक को काम' अर्थव्यवस्था का आधारभूत लक्ष्य होना चाहिए अर्थात् स्वस्थ और सवय व्यक्ति के लिए अपनी गृहस्थाश्रम की आयु में जीविकोपार्जन की व्यवस्था होना ही चाहिए। आज तो कुछ विचित्र ही स्थिति है। एक ओर तो 10 वर्ष का बालक और 70 वर्ष का बूढ़ा काम से जुता हुआ हैं तो दूसरी ओर 25 वर्ष का नौजवान बेकारी से ऊबकर आत्महत्या कर बैठता

है। इस अव्यवस्था को दूर करना होगा। भगवान ने हाथ तो दिये हैं परन्तु वे स्वत: उत्पादक नहीं बन सकते। उनके लिए पूँजी का सहयोग चाहिए। श्रम और पूँजी का संबंध पुरुष और प्रकृति का संबंध है। सृष्टि इन दोनों की लीला है। इनमें से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

पूँजी का निर्माण

पूँजी निर्माण के लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण उत्पादन का उपभोग करने के स्थान पर उसमें से कुछ बचाया जाय और उसे भावी उत्पादन के लिए काम में लिया जाए। उपभोग के संयम के बिना पूँजी नही बनेगी। कार्लमार्क्स जिस 'अतिरिक्त मूल्य' की चर्चा करता है, वही पूँजी निर्माण का आधार है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में उद्योगपति इस अतिरिक्त मूल्य के सहारे पूँजी निर्माण करता है। समाजवादी व्यवस्था में यह काम राज्य के द्वारा होता है। दोनों ही पद्धतियों मे सम्पूर्ण उत्पादन का वितरण श्रमिकों में नहीं होता। यदि उत्पादन की पद्धति 'बड़े पैमाने' की ओर 'केन्द्रित' रही तो पूँजी निर्माण के लिए श्रमिक के द्वारा किये गये संयम और त्याग का भी मान नहीं होता। विकेन्द्रीकरण में यह लाभ है कि पूँजी के रूप में इस 'अतिरिक्त मूल्य' के प्रयोग में श्रमिक का भी हाथ रह सकता है।

मशीन का प्रभुत्व

मशीन पूँजी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वरूप है। मानव के श्रम को सुखकर बनाने तथा उसकी उत्पादकता एवं क्षमता को बढ़ाने के लिए ही यन्त्र का आविष्कार हुआ है। यन्त्र मानव का सहायक है, मानव का प्रतिस्पर्धी नहीं किन्तु जहाँ मानव-श्रम को एक विनियम की वस्तु समझ कर उसका मूल्याकंन रूपयों में होने लगा, वहाँ मशीन मानव की प्रतिस्पर्धी बन गई। यह पूँजीवादी दृष्टिकोण का दुर्गुण है। यदि मशीन मानव का स्थान लेकर उसे भूखा मारे, तो वह उन उद्देश्यों के विपरीत होगा जिसकी सिद्धि के लिए यन्त्र का आविष्कार हुआ। जड़ मशीन इसके लिए दोषी नहीं। यह बुराई उस अर्थव्यवस्था की है जिसमें विवेक लुप्त हो जाता है। हमें मशीन की मर्यादाओं का विचार करके ही उसकी उपयुक्तता का निर्धारण करना होगा। इस दृष्टि में पश्चिम की उन मशीनों को, जो वहाँ जनसंख्या की कमी के आधार पर बनी है, बिना विचारे आयात करना भारी भूल होगी। मशीन देशकाल परिस्थिति निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष हैं। विज्ञान की आधुनिकतम प्रगति की वह उपज है, किन्तु प्रतिनिधि नहीं। ज्ञान किसी देश-विदेश की बपौती नहीं, किन्तु उसका प्रयोग प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार करता है। हमारी मशीन हमारी आर्थिक आवश्यकतओं के अनुकूल ही चाहिये। वह हमारे सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन मूल्यों की पोषक नहीं तो कम से कम अविरोध अवश्य होनी चाहिए।

सात मकार ('म' से प्रारम्भ होने वाले शब्द)

प्रो. विश्वेश्रैया ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि आर्थिक दृष्टि से उत्पादन प्रणाली का विचार करते समय हमें सात मकारों का विचार करना चाहिए। ये सात मकार हैं: (1) मैन, (2) मनी, (3) मैटीरियल, (4) मोटिव पावर, (5) मैनेजमेण्ट, (6) मार्केट (7) मशीन,

अर्थात् (1) काम करने वाले या जिनको काम मिलना चाहिए उन व्यक्तियों की संख्या, योग्यता तथा तंत्रज्ञता का विचार करना चाहिए। (2) उपलब्ध अथवा जिनकी उपलब्धि सम्भव है, ऐसे प्रकृति के साधनों का, कच्चे माल का, विचार करना होगा। (3) हमें यह भी देखना होगा कि हमारे पास कितनी पूँजी है। उस पूँजी को कितनी मात्रा में और किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है। उस पूँजी अधिकतम लाभ के लिए अच्छे-से-अच्छे किस रूप में लगाया जा सकता है और कितना सामान्य काम चलाने के लिए हाथ में रखना आवश्यक है। (4) हमें अपने देश की शक्ति का भी विचार करना होगा। मानव और पशुश्रम के अतिरिक्त हवा, पानी, भाप, तेल, गैस, बिजली एवं अणुशक्ति सभी से मशीनें चल सकती हैं। इनमें कौन - सी शाक्ति कितनी मात्रा में उपलब्ध हो सकती है और हमें अनार्थिक नहीं होगी, इसका विचार करके ही उत्पादन पद्धति का निर्धारण करना होगा। (5) इसी प्रकार करना होगा। अर्थात् बाजार का विचार किये बिना किसी भी वस्तु का उत्पादन आर्थिक दृष्टि से समर्थनीय नहीं हो सकता। (7) इन सब बातों का विचार करके हमें उपयुक्त मशीन का निर्माण करना चाहिए। किन्तु होता यह है कि हम पहले 'मशीन' का खूँटा गाड़ देते हैं और फिर सभी वस्तुओं का सामंजस्य उसके साथ बिठाते है। किन्तु दुनिया के दूसरे देशों में ऐसा नहीं हुआ, अन्यथा नई-नई मशीनें नहीं बनती। वास्तव में जो विज्ञान की प्रगति का लक्षण है उसे स्थिर मानकर चलना

एक अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। हम मशीन बाहर से मंगाते है, इसलिए इस विषय में हमारे यहां लचीलापन बहुत कम है। हमें भारतीय प्रौद्योगिकी का विकास करना होगा।

उपर्युक्त सातों उत्पादनों-साधनों में से कोई भी अपरिर्वतनीय नहीं वास्तव में प्रत्येक नित्य बदलता रहता हे। यह परिवर्तन विकास की दिशा में हो। उसमें कष्ट तथा विद्यमान शक्ति का छीजन कम-से-कम हो तथा उसके द्वारा हम अपने समाज के दायित्वों का निर्वाह कर सकें, इस बात का विचार नियोजकों को करना होगा। एक उदाहरण लें। हमारे यहां श्रमिक की उत्पादकता बहुत कम है। यन्त्र के सहारे वह बढाई जा सकती है। बढ़ाना आवश्यक ही है। किन्तु यन्त्र ऐसा रहा कि जिसको चलाने के लिए बहुत कम आदमियों की जरूरत पड़े और शेष व्यक्ति बेकार हो जाएं अथवा इन यन्त्रों को बाहर से मंगवाने का खर्चा ही इतना अधिक हो कि उसका भुगतान करने में ही बढ़ी हुई उत्पादकता अधूरी पड़े तो कहना होगा कि वह यन्त्र ठीक नहीं है। जैसे किसी कारखाने की पूरी क्षमता का उपयोग न कर पाना आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं, वैसे ही देश के लोगों को बेकार रखना घाटे का सौदा है। यहाँ तो दोहरा घाटा है। खाली मशीन केवल पुरानी पूँजी खाती है, नया कुछ नहीं। पर बेकार मनुष्य तो आज भी खाता है। अत: आज तो गकमाने वाला खाएगाग के स्थान पर गखाने वाला कमाएगाग यह लक्ष्य रखकर हमें भारत की अर्थरचना करनी होगी। चर्खें की जगह कताई मशीनें तो चाहिए, परन्तु सब कामों के लिए स्वचालित मशीनें नहीं। पूर्ण रोजगार का लक्ष्य सामने रखकर ही हमें अन्य छ: उपादनों साधनों का विचार करना चाहिए।

अर्थ-रचना में व्यक्ति

व्यक्ति के उपयोग अथवा उसके रोजगार का विचार करते समय हमें पूर्ण एकात्म मानव का सदैव विचार रखना होगा। पिछली शताब्दियों के आर्थिक चिंतन और उस पर आधारित अर्थव्यवस्था का यह परिणाम हुआ है कि हाड़-मांस का वास्तविक मानव हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। हम उसके व्यक्तित्व का तनिक भी विचार नहीं करते। पूँजीवादी अर्थशास्त्र मनुष्य को एक अर्थलोलुप प्राणी मानकर चलता है। उसके सभी निर्णय आर्थिक दृष्टिकोण से होते हैं। वह अर्थोत्पादन की प्रेरणा से ही काम करता है। ज्यादा से ज्यादा लाभ उसका लक्ष्य है। जैसे बाजार में बाकी चीजें खरीदी-बेची जाती हैं, वैसे ही मानवश्रम क्रय-विक्रय की वस्तु है। यह फ्री एण्टरप्राइज की व्यवस्था है। प्रतिस्पर्द्धा के ब्रेक को छोड़कर वह किसी दूसरे नियन्त्रण को अन्याय मानता है। इस दौड़ में जो सबसे पीछे रह गया, उसे साथ लेकर चलने का विचार करने के लिए वह तैयार नहीं, प्रत्युत उसके विनाश को वह न्याय मानता है। वह अनार्थिक है, उसे नष्ट होना चाहिए, यह उसकी धारणा है। उसके विनाश से धीरे-धीरे शक्ति सिमटकर कुछ हाथों केन्द्रित हो जाती है। इसको पूँजीवादी अर्थशास्त्र स्वाभाविक प्रक्रिया मानता है। किन्तु एकाधिकार होने के बाद प्रतिस्पर्द्धा के कारण उत्पन्न होने वाली प्रेरणा नष्ट हो जाती है। मूल्य मनमाने हो जाते है। तथा गुण की दृष्टि से ह्रास होने लगता है।

ऐसे अर्थशास्त्री की दृष्टि उपभोक्ता के नाते भी मानव की आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं की ओर नहीं, अपितु उसकी जेब पर अर्थात् क्रय-शाक्ति पर रहती है। भूखे और निर्धन की अपेक्षा पेट भरे और सम्पन्न की ही वहाँ चिन्ता की जाती है। फलत: जहाँ सम्पन्न की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नानाविध वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, वहाँ साधनहीन के लिए जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं का भी अभाव बढ़ जाता है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में विकास नहीं

उत्पादन केन्द्रीकरण एवं एकाधिपत्य के कारण उपभोक्ता धीरे-धीरे प्रभावहीन हो जाता है। बाजारों का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि उसमें 'रामप्रसाद' के पैर के नम्बर का जूता मिलेगा। सभी क्षेत्रों में यह वर्गीकरण इतनी तेज से बढ़ रहा है कि व्यक्ति का निजी व्यक्तित्व नष्ट होकर वह एक नम्बर बनता जा रहा है। डयूई दशमलव प्रणाली के अनुसार जैसे पुस्तकों का वर्गीकरण कर उसे एक निश्चित नम्बर दिया जाता है, वैसे ही मानव को भी दिया जा सकता है। व्यक्ति को ही सब कुछ मानने वाली अर्थव्यवस्था ने व्यक्तित्व को बिलकुल ही समाप्त कर दिया है। स्पष्टत: पूँजीवादी अर्थव्यवस्था 'मानव' का विकास करने में असमर्थ सिद्ध हुई है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था प्रतिक्रियावादी

पूँजीवादी के विरोध में समाजवादी अर्थव्यवस्था आई। किन्तु वह भी मानव को उसकी प्रतिष्ठा नहीं दे पाई। उसने पूँजी का स्वामित्व राज्य के हाथ में

देकर सन्तोष कर लिया।

किन्तु 'राज्य' तो अत्यधिक व्यक्ति - निरपेक्ष संस्था है। वहाँ का हर काम विधि-विधान और नियमों के अधीन चलता है। वहाँ सामान्यत: स्वविवेक के लिए स्थान नहीं। यदि कही शासन अधिकारियों में अत्युच्च कर्तव्यभाव एवं समाजनिष्ठा न रही तो पक्षपात और भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिलता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने तो केवल अर्थपरायण मानव का विचार किया तथा अन्य क्षेत्रों में उसे स्वतंत्र छोड़ दिया। अत: वह कुछ मात्रा में अपने व्यक्तित्व का विकास कर सका। किन्तु समाजवादी व्यवस्था तो मात्र जातिवाचक मानव का ही विचार करती है। उसमें व्यक्ति की रूचि, प्रकृति एवं गुणों की विविधता एवं उसके आधार पर विकास के लिए कोई स्थान नहीं।

जिस प्रकार जेल मेन्यूअल में मानव का विचार कर उसकी आवश्यकताओं की चिन्ता की गयी है तथा उसके कार्यों का विधान किया गया है, इसी प्रकार समाजवादी व्यवस्था में मानव का विचार अत्यन्त ही व्यक्ति निरपेक्षता के आधार पर किया गया है। वहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नहीं है।

व्यक्ति पर राज्य हावी

समाजवादी व्यवस्था में निजी सम्पत्ति नहीं है। अत: सम्पत्ति के निजी स्वामित्व से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से वह मुक्त है। किन्तु सम्पत्ति से तथा उसके अर्जन का एषणा से जो व्यक्तित्व के विकास और पुरुषार्थ की प्रेरणाा मिलती है, उसकी वहाँ कोई समाधानकारक व्यवस्था नहीं की गई। राज्य को सर्वेसर्वा बना दिया गया है। व्यक्ति इस भीमकाय मशीन का पुर्जा मात्र रह गया है। यह पुर्जा ठीक-ठाक काम करे, इसके लिए किसी अंत: प्रेरणा का विचार नहीं हुआ। डिजीलस (Djilas) के अनुसार शोषकों का पुराना वर्ग तो समाप्त हो चला है, किन्तु नौकरशाही का नया शोषक वर्ग उत्पन्न हो रहा है। कार्लमार्क्स ने इतिहास का जो विश्लेषण किया, उसमें कम्युनिज्म को पूँजीवाद की स्वाभाविक परिणति बताया है। पूँजीवाद में ही पूँजीवाद के विनाश के बीज छिपे हुए है, यह उसका प्रतिपादन है।

यह कल्पना साम्यवादी कार्यकर्ताओं को अपनी अंतिम विजय का विश्वास दिलाने के लिए चाहे लाभप्रद प्रतीत हो, किन्तु इससे मानव की सुधारवादी एवं क्रान्तिकारी प्रेरणा नष्ट हो जाती है। वह युग का निर्माता नहीं अथवा क्रान्ति का सृष्टा नहीं, जो कुछ पूर्व में निश्चित है, उसका निमित्त मात्र है। उसका काम तो विधि के विधान में तेजी लाना है। इसलिए वह मजदूरों का संगठन करके भी उनके हित में चिन्ता नहीं करता, बल्कि उन्हें साधन के रूप में ही प्रयोग करता है। कार्लमार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विधान भी तब तक काम करता है, जब तक पूँजीवाद के स्थान पर सर्वहारा के अधिनायक के रूप में राज्य सर्वेसर्वा नहीं बन जाता। उसके बाद राज्य इस नियम को काम नहीं आने देता। प्रतिक्रान्ति को रोकने के नाम पर राज्य अधिकाधिक निरंकुश बनता जाता है तथा वह दिन, जब राज्य समाप्त होकर राज्यविहीन समाज-व्यवस्था जन्म लेगी, एक कल्पना मात्र रह जाता है। वास्तव में क्रिया, प्रतिक्रिया और संक्रिया की प्रक्रिया को रोकना ही मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार एक प्रतिगामी एवं प्रगति विरोधी कार्य है। मार्क्स अपने ही दर्शन को झुठलाता है।

इन दोनों पूँजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं में मानव के सही एवं पूर्ण रूप को नहीं समझा गया। एक में उसे स्वार्थी, अर्थपरायण, संघर्षशील एवं मत्स्यन्याय-प्रवण माना गया है, तो दूसरी में व्यवस्थाओं और परिस्थितियें का दास, अकिंचन एवं अनास्थामय माना गया है, शक्तियों का केन्द्रीयकरण दोनों में अभिप्रेत है। फलत: दोनों का परिणाम अमानवीकरण में ही हो रहा है।

मानव का उत्कर्ष और सुख चाहिए

भगवान की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव अपने को खोता जा रहा है। हमें मानव को पुन: अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा, उसकी गरिमा को उसे ज्ञान कराना होगा, उसकी शक्ति को जगाना होगा तथा उसे देवत्व की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थशील बनाना होगा। यह विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था के द्वारा ही सम्भव है। हमें समाजवाद अथवा पूँजीवाद नहीं,'मानव' का उत्कर्ष और सुख चाहिए।

हमारी अर्थ-व्यवस्था

अत: हमारी अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिए -

- प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन स्तर की आश्वस्ति तथा राष्ट्र की सुरक्षा सामर्थ्य की व्यवस्था।
- इस स्तर के उपरान्त उत्तरोत्तर समृद्धि, जिससे व्यक्ति और राष्ट्र को वे साधन उपलब्ध हो सकें, जिनसे वह अपनी चिति के आधार पर

विश्व की प्रगति में योगदान कर सकें।

- उपर्युक्त लक्ष्यों की सिद्धि के लिए प्रत्येक सवय व्यक्ति को साभिप्राय रोजगार का अवसर देना तथा प्रकृति के साधनों का मितव्ययिता के साथ उपयोग करना।
- राष्ट्र के उत्पादक उत्पादानों का विचार कर अनुकूल प्रौद्योगिकी का विकास करना।
- यह व्यवस्था 'मानव' की अवहेलना न कर उसके विकास में साधक हो तथा समाज के सांस्कृतिक एवं अन्य जीवन - मूल्यों की रक्षा करे। यह लक्ष्मण रेखा है जिसका अतिक्रमण अर्थ रचना किसी भी परिस्थिति में नहीं कर सकती।
- विभिन्न उद्योगों आदि में राज्य, व्यक्ति तथा अन्य संस्थाओं के स्वामित्व का निर्णय व्यवहारिक आधार पर हो।

यह कुछ मोटी-मोटी बातें हैं जिनका विचार कर हमें अर्थ - रचना करनी होगी। आज की परिस्थिति में यदि किन्हीं दो शब्दों का प्रयोग कर अपनी अर्थव्यवस्था की दिशा में परिवर्तन को बताना हो तो वे है 'विकेन्द्रीकरण' और 'स्वदेशी'। हम आज जो रचना कर रहे हैं उसमें 'केन्द्रीकरण' जाने अथवा अनजाने में हमारी श्रद्धा का विषय बन गया है। केन्द्रीकरण ही आर्थिक है, यह हमारी मान्यता बन गयी है और इसलिए उसके दुष्परिणाम की चिन्ता न करते हुए अथवा जानकर भी विवशता से हम उसी ओर बढ़ रहे हैं। यही हाल 'स्वदेशी' का है। स्वदेशी की कल्पना बीते युग की तथा प्रतिगामीपन की द्योतक समझी जाती है। विदेशों की हर वस्तु हम बड़े चाव से ले रहे हैं। विचार, व्यवस्था, पद्धति, पूँजी, उत्पादन - प्रणाली, प्रौद्योगिकी तथा उपभोग के मानदण्ड सभी क्षेत्रों में हम विदेशों पर निर्भर है। यह प्रगति का रास्ता नहीं। इससे विकास नहीं होगा। हम अपने 'स्व' को विस्मृत कर परतंत्र हो जाएँगे। 'स्वेदशी' के भावनात्मक रूप को समझ कर हमें उसके सृजन का आधार एवं अवलम्ब बनाना चाहिए।

नव-निर्माण करना होगा

समयाभाव के कारण मैंने अर्थव्यवस्था के संस्थागत पहलुओं की चर्चा नहीं की है। किन्तु यह स्पष्ट है कि अनेक पुरानी संस्थाएँ बदलेंगी और नई जन्म लेंगी। इस परिवर्तन के कारण जिनका पुरानी संस्थाओं में निहित स्वार्थ हैं, उन्हें धक्का लगेगा। कुछ लोग जो प्रकृति से ही अपरिवर्तनवादी है, उन्हें भी सुधार और सृजन के इन प्रयत्नों में कुछ कष्ट होगा। किन्तु बिना औषधि के रोग ठीक नहीं होता और व्यायाम का कष्ट उठाए बिना, बल भी नहीं आता। अत: हमें यथास्थिति का मोह त्यागकर नव-निर्माण करना होगा। हमारी रचना में प्राचीन के प्रति अश्रद्धा एवं अवज्ञा का भाव नहीं होना चाहिए, किन्तु उससे चिपटे रहने की भी आवश्यकता नहीं। परिवर्तन की दिशा कौन-सी होगी, इसका हमने ऊपर विचार किया है।

हमने 'मानव' के समग्र एवं संकलित रूप का थोड़ा विचार किया है। इस आधार पर हम चले तो हम भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के साथ राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र, समता और विश्व-एकता के आदर्शों को एक समन्वित रूप में रख सकेंगे। इसके बीच का विरोध नष्ट होकर वे परस्पर पूरक होंगे। मानव अपनी खोई प्रतिष्ठा और जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर सकेगा।

व्यवहारिक प्रयत्न करना होगा

हमने यहाँ तात्विक विवचेन किया है। किन्तु भारतीय जनसंघ के कार्यकर्ता मात्र दर्शनशास्त्री एवं ।बंकमउपबपंद नहीं। हम तो भारतीय जनसंघ के माध्यम से राष्ट्र को सबल, समृद्ध और सुखी बनाने का संकल्प लेकर चले हैं। अत: इस अधिष्ठान पर हमें राष्ट्र रचना का व्यववहारिक प्रयत्न करना होगा। हमने अपनी प्राचीन संस्कृति का भी विचार किया है। किन्तु हम कोई पुरातत्ववेता नहीं हैं। हम किसी पुरातत्व संग्रहालय के संरक्षक बनकर नहीं बैठना चाहते। हमारा ध्येय संस्कृति का संरक्षण नहीं अपितु उसे गति देकर सजीव व सक्षम बनाना है। उसके आधार पर राष्ट्र की धारणा हो और हमारा समाज स्वस्थ्य एवं विकासोन्मुख जीवन व्यतीत कर सके, इसकी व्यवस्था करनी है। इस दृष्टि से हमें अनेक रूढ़ियाँ खत्म करनी होंगी, बहुत से सुधार करने होंगे। जो हमारे मानव का विकास और राष्ट्र की एकात्मता की वृद्धि में पोषक हो, वह हम करेंगे ओर जो बाधक हो, उसे हटाएँगे। ईश्वर ने जैसा शरीर दिया है। उसमें मीन-मेख निकालकर अथवा आत्मग्लानि होकर चलने की आवश्यकता नहीं है। पर शरीर में फोड़ा होने पर उसका ऑपरेशन तो आवश्यक है। सजीव और स्वस्थ्य अंगों को काटने की जरूरत नहीं है। आज यदि समाज में छुआछूत और

भेदभाव घर कर गये हैं, जिसके कारण लोग मानव को मानव समझकर नहीं चलते और जो राष्ट्र की एकता के लिए द्यातक सिद्ध हो रहे हैं तो हम उनको खत्म करेंगे।

हमें उन संस्थाओं का निर्माण करना होगा जो हमारे अन्दर कर्मचेतना पैदा करें। हमें स्व-केन्द्रित एवं स्वार्थी बनाने के स्थान पर राष्ट्रसेवी बनावें, अपने बन्धुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण ही नहीं, उनके प्रति आत्मीयता ओर प्रेम पैदा करें। इस प्रकार की संस्थाएँ ही वास्तव में हमारी चिति का आविष्कार कर सकेंगी।

हम 'विराट्' जाग्रत करें

जैसे राष्ट्र का आधार चिति होती है, वैसे ही जिस शक्ति से राष्ट्र की धारणा होती है उसे 'विराट्' कहते है। 'विराट्' राष्ट्र की वह कर्मशक्ति है जो चिति से जाग्रत एवं संगठित होती है। विराट् का राष्ट्र जीवन में वही स्थान है जो शरीर में प्राण का है। प्राण से ही सभी इन्द्रियों को शक्ति मिलती है, बुद्धि को चैतन्य प्राप्त होता है और आत्मा शरीरस्थ रहती है। राष्ट्र में भी विराट् के सबल होने पर ही उसके भिन्न-भिन्न अवयव अर्थात् संस्थाएँ सक्षम और समर्थ होती हैं। अन्यथा संस्थागत व्यवस्था केवल दिखावा मात्र रह जाती है। विराट् के आधार पर ही प्रजातंत्र सफल होता है और राज्य बलशाली बनता है। इसी व्यवस्था से राष्ट्र की विविधता उसकी एकता के लिए बाधक नहीं होती। भाषा, व्यवस्था आदि भेद तो सभी जगह होते हैं। किन्तु जहाँ विराट् जाग्रत रहता है, वहाँ संघर्ष नहीं होते। सब लोग शरीर के भिन्न -भिन्न अवयवों की भाँति या कुटुम्ब के घटकों के समान परस्पर पूरकता से काम करते हैं।

हमें अपने राष्ट्र के विराट् को जाग्रत करने का काम करना है। अपने प्राचीन के प्रति गौरव का भाव लेकर, वर्तमान का यथार्थवादी आकलन कर और भविष्य की महत्वाकांक्षा लेकर हम इस कार्य में जुट जाएँ। हम भारत को न तो किसी पुराने जमाने की प्रतिच्छाया बनाना चाहते हैं, और न रूस या अमरीका की तस्वीर (अनुकृति)।

विश्व का ज्ञान और आज तक की अपनी सम्पूर्ण परम्परा के आधार पर एक ऐसा भारत निर्माण करेंगे जो हमारे पूर्वजों के भारत से अधिक गौरवशाली होगा जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तितव का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानव ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर 'नर से नारायण' बनने में समर्थ हो सकेगा। यह हमारी संस्कृति का शाश्वत् दैवी और प्रवहमान रूप है। चौराहे पर खड़े विश्व - मानव के लिए यह हमारा दिग्दर्शन है। भगवान हमें शक्ति दे कि हम इस कार्य में सफल हों, यही प्रार्थना है।

कालीकट अधिवेशन का प्रसिद्ध व एकमात्र अध्यक्षीय भाषण

प्रतिनिधि साथियों,

इस वर्ष आपने मुझे प्रधान के नाते कार्यभार सौंपा है। हमारा दल कार्यकर्ताओं का संगठन है। प्रत्येक कार्यकर्ता समान भाव से अधिकाधिक जिम्मेदारी और अहमहमिकावृत्ति से काम में जुटा हुआ है। इस एकजुट एवं वर्धमान संगठन की संवैधानिक आवश्यकता की पूर्ति में आपने मेरे प्रति जो विश्वास प्रकट कर मुझे गौरव प्रदान किया है वह आपके हृदय की विशालता और स्नेहशफलता का परिचायक है। इस पूँजी के सहारे ही मैं पिछले पन्द्रह वर्षों से महामंत्री के नाते काम करता रहा। आगे भी यही मेरा सम्बल रहेगा।

संक्रमण की वेला

आज हम दो युगों की सन्धिवेला में भगवान परशुराम की तपोभूमि केरल में मिल रहे हैं। विगत अर्धशताब्दी में देश के मन और मस्तिष्क पर काँग्रेस तथा उसकी विचारधारा का प्रभाव रहा। उसके नेता राष्ट्र की नीति के ही नहीं उसके जीवन-मूल्यों के भी नियामक रहे। स्वराज्य के बाद शासन के सूत्र भी उन्हीं के हाथों में आये। उन्होंने जो कुछ किया उसका लेखा-जोखा लेने का यह अवसर नहीं है। इतना अवश्य करना होगा कि सामान्य जन में राजनीतिक चेतना का जागरण इस युग की सबसे बड़ी देन है। यदि इस चेतना को तात्कालिक राजनीति की भूल-भूलैया से बचाकर एक भावात्मक राष्ट्रीय अधिष्ठान पर सृजन का साधन बनाया जाता तो हम और आगे बढ़ गये होते तथ आज की अनेक समस्याओं से मुक्त रहते। हमें इस चेतना को भावनात्मक रूप देकर ही नये युग का निर्माण करना है। किन्तु देश में अनेक ऐसे लोग है जो या तो बीते युग से ही जकड़े हैं या राष्ट्रमानस से अनभिज्ञ अथवा उसके प्रति असहानुभूतिपूर्ण एवं अश्रद्धालु होने के कारण विदेशीपन से प्रभावित एवं व्यामूढ़ हैं। फलतः युग-परिवर्तन सहज न होकर संघर्षपूर्ण हो गया है। हमें सभी विद्यमान समस्याओं का विश्लेषण इस पार्श्वभूमि में करते हुए देश और काल के अनुसार अपनी नीति निर्धारित करनी होगी।

विकल्प की खोज

इस युग-संक्रमण का संकेत अगस्त-सितम्बर 1965 में ही मिल गया था जब भारत की वीरवाहिनियों ने पाकिस्तानी आक्रमण के विरुद्ध अपने पराक्रम एवं विजिगीषा का परिचय दिया। किन्तु काँग्रेस शासन ने जो नीतियाँ बाद में अपनायीं उनसे यह सिद्ध हो गया कि उसमें नये युग का साधन बनने का सामर्थ्य नहीं रहा। फलतः जनता आतुरता के साथ मुक्ति की कामना करने लगी। चतुर्थ आम चुनावों में अनेक प्रांतों में काँग्रेस का पराभव इस प्रक्रिया का श्रीगणेश है। यदि गैर-काँग्रेसी दल अधिक मजबूत होते तो परिणाम और भी अच्छा रहता। अन्य सभी गैर-काँग्रेसी दलों की तुलना में जनसंघ की उपलब्धियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं, पर परिस्थिति की मांग के मुकाबले समाधानकारक नहीं। हाँ, इतना अवश्य सिद्ध हो गया है कि जनसंघ में एक विकल्प के रूप में विकसित होने के बीज विद्यमान हैं। चुनाव के बाद तेजी से बढ़ता हुआ जनसहयोग और संगठन का विस्तार इसी विश्वास का परिणाम है।

समस्याओं का स्वरूप

चुनाव के बाद तीन प्रकार की समस्याएँ सामने आयी हैं। प्रथम तो वे प्रश्न हैं जिनका संबंध संक्रमण-काल की राजनीति से है। विभिन्न दलों के बीच जोड़-तोड़, मंत्रिमण्डलों की अस्थिरता, दल-परिवर्तन आदि के प्रश्न इस कक्षा में आते हैं। दूसरी श्रेणी में वे प्रश्न आते हैं जिनके बीज भारत के संवैधानिक ढाँचे में होते हुए भी जो पिछले वर्षों में उभरे नहीं थे अथवा उनका वर्तमान गंभीर रूप प्रकट नहीं हुआ था। केन्द्र और प्रांतों के संबंध तथा अंतर प्रांतीय समस्याएँ इस दृष्टि से उगेखनीय हैं। तीसरे वर्ग में देश की अर्थव्यवस्था, गृह सुरक्षा तथा विदेश-नीति संबंधी प्रश्न है जो काँग्रेस शासन की गलत एवं अयथार्थवादी नीतियों के कारण आज काफी गंभीर बन गये हैं। सामयिक होने के कारण पहली श्रेणी के प्रश्नों की यद्यपि विशेष चर्चा हो रही है, फिर भी वे महत्वपूर्ण नहीं है, पर दूसरी और तीसरी श्रेणी के प्रश्न ऐसे हैं जिनकी ओर ठीक ध्यान नहीं दिया गया तो देश की एकता और हितों को भारी खतरा पैदा हो सकता है।

राज्यपालों का व्यवहार

आम चुनावों के बाद दिल्ली और मद्रास को छोड़कर अन्य प्रांतों में किसी भी एक दल के बहुमत में न आने के कारण पहला प्रश्न सरकार बनाने का था। जहाँ एक ओर गैर-काँग्रेसी दलों ने जनभावना का समादर करते हुए तथा परिस्थिति और प्रजातांत्रीय मांग को समझकर पंजाब, बिहार, पश्चिम बंगाल और केरल में मिले-जुले मंत्रिमण्डल बनाये, वहाँ दूसरी ओर राजस्थान और उत्तर प्रदेश में काँग्रेस ने जनक्षोभ के बावजूद राज्यपालों के सहारे सत्ता हथियायी। उत्तर प्रदेश में तो यह सत्ता टिकाएँ नहीं रख पायी, किन्तु राजस्थान में उसने अनेक भ्रष्ट उपायों से बहुमत काफी बढ़ा लिया है। मित्र-मंत्रिमण्डल के पतन के समय मध्यप्रदेश में और हाल में पश्चिम बंगाल, हरियाणा और पंजाब में राज्यपालों ने जिस मनमाने ढंग से आचरण किया है उससे इस पद की प्रतिष्ठा को तथा संविधान को भारी आघात पहुँचा है। जब राज्यपाल केन्द्र के प्रतिनिधि हैं तो केन्द्र-शासन को उनके व्यवहार की पूरी जिम्मेदारी संभालनी चाहिए। इस जिम्मेदारी से भागने का अर्थ यही है कि केन्द्र के नेताओं के मन में पाप है तथा वे टट्टी की ओट में शिकार खेलना चाहते हैं। इस अवसर पर कुछ क्षेत्रों में चुने हुए राज्यपालों की मांग की जा रही है। मैं इसे उपयुक्त नहीं समझता। यह रोग का इलाज नहीं। इससे केन्द्रापसारी वृत्ति के बढ़ने की ही संभावना है। विशेष अवसरों को छोड़कर राज्यपाल एक संवैधानिक प्रमुख मात्र है। उसे न तो प्रदेश सरकार की मुहर बनना चाहिए और न केन्द्र की दलीय सरकार का हस्तक। अत: इस पद पर ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति होनी चाहिए जो सही माने में स्वविवेक का प्रयोग कर सकें तथा जिनकी निष्पक्ष पात्रता में सन्देह की गुंजाइश न हो। हारे हुए राजनीतिज्ञों अथवा सेवा-निवृत्त अफसरों के स्थान पर यह अच्छा होता कि हम सर्वोच्च न्यायालय के सेवा-निवृत्त न्यायाधीशों को यह स्थान दें। सेवा-निवृत्ति की तिथि के अनुसार इनकी तालिका बना ली जाये तथा जब राज्यपाल का स्थान रिक्त हो तब उनकी क्रमानुसार नियुक्ति की जाये। इसमें न तो राज्य-सरकार की सहमति का प्रश्न रहेगा और न गृह-मंत्रालय की मर्जी का।

संयुक्त शासनों की उपलब्धियाँ

संयुक्त मंत्रिमण्डल ने काँग्रेस शासन का विकल्प तो दिया किन्तु उसकी नीतियों और कार्यक्रमों का पर्याय प्रस्तुत करना न तो उनके लिए संभव था और न उनका निर्माण ही इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया था। खेद का विषय है कि कुछ दलों ने इन मंत्रिमण्डलों की इस सीमा को न समझकर उन्हें अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को पूरा करने का साधन बनाने का प्रयास किया। इस दलीय दृष्टिकोण और गैर-जिम्मेदारी के व्यवहार के परिणामस्वरूप ये सरकारें बराबर तनावपूर्ण एवं अनिश्चितता के वातावरण में काम करती रही हैं। प्रदेशों के सीमित साधनों और अधिकारों, केन्द्र के काँग्रेसी शासन की कुटिल नीति तथा घटक दलों की खींचतान के बाद भी इन शासनों ने अपने छोटे से कार्यकाल में जनता को राहत पहुँचाने के बहुत से काम किये हैं। जो चमत्कार की आशा करते थे उनकी अपेक्षाएँ अवश्य पूरी नहीं हुयी। यदि इसमें से कुछ यथार्थवादिता और राजनीतिक विश्लेषण एवं विवेचन की प्रवृत्ति का उदय हुआ तो वह भी एक लाभ होगा। इन मंत्रिमण्डलों के गठन ने राजनीतिक छुआछूत और विलगाव की मनोवृत्ति को समाप्त करने की ओर एक स्तुत्य पग बढ़ाया है। नीतिभेद रहते हुए भी दलों के बीच सहिष्णुता एवं आवश्यकतानुसार साथ काम करने की तैयारी प्रजातंत्र का आधार तथा राष्ट्रीय एकरसता का सूचक है। संयुक्त मंत्रिमण्डलों का भविष्य चाहे जो हो, मेरी कामना है कि हम सभी इस उपलब्धि को हाथ से न जाने दें।

संसदीय प्रजातंत्र कसौटी पर

संयुक्त मंत्रिमण्डलों की तनावपूर्ण स्थिति तथा मंत्रिमण्डलों के पतन के प्रयत्नों और परिणाम से उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता के कारण कुछ लोग संसद प्रजातंत्र का परित्याग कर अध्यक्षीय प्रणाली अपनाने की सलाह दे रहे हैं। श्री अशोक मेहता का सुझाव है कि केवल प्रांतों में इसे लाया जाएँ। केन्द्र और प्रांतों के बीच भेद क्यों किया जा रहा है? सत्य तो यह है कि ब्रिटेन और अमरीका की पद्धतियाँ वहाँ के इतिहास के साथ विकसित हुई है। हमें उनकी नकल करने के बजाय अपनी प्रकृति के अनुरूप प्रजातांत्रीय पद्धतियों का विकास करना चाहिए। पिछले पचास वर्षों से हम किसी न किसी रूप में संसदीय प्रणाली को व्यवहार में ला रहे हैं। हम इसे ही बदलती हुई राजनीति के अनुरूप ढालें। ब्रिटिश पार्लियामेंट की द्विदलीय राजनीति की नयी परम्पराओं को अपनाकर चले तो संक्रमणकालीन अस्थिरता को भी टाला जा सकता है। उदाहरण के लिए यह परम्परा विकसित की जा सकती है कि कोई भी

मंत्रिमण्डल तब तक त्याग-पत्र नहीं देगा जब तक उसके विरुद्ध विधानसभा में अविश्वास-प्रस्ताव पारित न हो जाये। इस दृष्टि से यह भी परम्परा डाली जा सकती है कि यदि विधान-सभा में बहुसंख्यक सदस्य अध्यक्ष से आग्रह करें तो विधान-सभा की बैठक बुलायी जाये।

दल-परिवर्तन

प्रदेशों में मंत्रिमण्डलों के गठन और पतन के प्रसंग में विधायकों द्वारा दल-परिवर्तन भी एक विचारणीय प्रश्न बन गया है। दल-परिवर्तन कोई नयी घटना नहीं है। चुनावों के पूर्व काँग्रेस छोड़ने का और बाद में काँग्रेस से नाता जोड़ने का क्रम सदैव रहा है। कांग्रेसियों की इस आवक-जावक से अनेक नये दल बने और बिगड़े हैं। जिन्होंने काँग्रेस नहीं छोड़ी, वे भी काँग्रेस के अन्दर विभिन्न गुटों के प्रति अपनी निष्ठा बदलते रहे हैं। फलतः काँग्रेस का नाम बना रहने के बाद भी मंत्रिमण्डलों के सम्बन्ध में अनिश्चितता का वातावरण रहा है और उनका अनेक बार पतन हुआ है। स्वराज्य के बाद काँग्रेस और काँग्रेसजनों के सामने कोई निश्चित नीति एवं आदर्श न होने के कारण ही उनका इस प्रकार का व्यवहार रहा है। दल बदलने वालों में से 99 प्रतिशत वे लोग हैं जो काँग्रेस को छोड़कर दूसरे दलों में आये और फिर उन दलों को छोड़कर चले गए। ज्यों-ज्यों दलों का गठन निश्चित नीति और सिद्धांतों के आधार पर होता जावेगा, उनका संगठन मजबूत होगा तथा जनता की राजनीतिक शिक्षा होकर वह अपने मत का उपयोग दलों के कार्यक्रमों का विचार करके करेगी, यह प्रवृत्ति कम हो जायेगी।

केन्द्र और प्रांतों के सम्बन्ध

केन्द्र में काँग्रेसी तथा अनेक प्रदेशों में गैर-काँग्रेसी शासन होने के कारण केन्द्र और प्रदेशों के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रश्न भी राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बन गया है। संविधान का स्वरूप संघीय है, किन्तु उसके प्रावधान एवं व्यवस्थाएँ बहुतांश में एकात्मक है। पिछले बीस वर्षों के राजनीतिक ढाँचे, नियोजन तथा वित्तीय स्थितियों ने केन्द्र को और भी अधिकार-सम्पन्न बना दिया है। सभी स्तरों पर काँग्रेस का भारी बहुमत और शासन होने के कारण केन्द्र के इस अधिकार को न तो कभी चुनौती दी गयी और न उसके दुरूपयोग के संबंध में शिकायत का अवसर आया। काँग्रेस हाईकमान ने भी अपने प्रभाव का उपयोग इस संबंधों को ठीक बनाये रखने के लिए किया। किन्तु अब स्थिति बदली है। प्रांतों में गैर-काँग्रेसी दल सत्ता में साझीदार हैं, वे अपने तरीके से जनता की सेवा करना चाहते हैं। उन्हें इसका पूरा अवसर तथा साधन मिलने चाहिए। यदि केन्द्र के शासकों ने सार्वभौम सत्ता के अपने दायित्व के अनुरूप हृदय की विशालता तथा निष्पक्षता का परिचय न देकर दलीय दृष्टिकोण से काम लिया तथा उसके लिए संविधान-प्रदत्त अधिकारों की दुहाई दी तो वह हानिकारक होगा। राष्ट्रवादी तो विफलता का अनुभव कर कुंठित होंगे, किन्तु वे दल, जो पहले से ही विघटन और पृथकता के पोषक है, इस स्थिति का लाभ उठाकर केन्द्र को चुनौती देंगे। पश्चिम बंगाल और केरल में कम्युनिस्टों का व्यवहार इसी प्रकार का रहा है। इन तनावों से देश की एकता को खतरा न पहुँचे, इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि एक ओर तो हम अपने संविधान के स्वरूप को एकात्मक बनाएँ तथा दूसरी ओर प्रदेशों को दायित्वपूर्ण स्वायत्तता प्रदान करने के लिए वित्तीय स्रोत एवं अन्य अधिकारों के विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था की जाये।

स्थायी वित्त आयोग

वित्तीय दृष्टि से प्रदेश केन्द्र पर बुरी तरह निर्भर हैं। अधिकारों और दायित्वों का संविधान में इस प्रकार बँटवारा हुआ है कि लोक-कल्याण एवं विकास तथा प्रशासन की सम्पूर्ण जिम्मेदारी प्रदेशों पर है, जबकि आय के लचीले और फलदायी स्रोत केन्द्र के पास हैं। वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार यद्यपि आयकर तथा उत्पादन-शुल्क का कुछ भाग प्रदेशों को मिल जाता है, फिर भी ये बड़ी मात्रा में केन्द्रीय अनुदानों पर निर्भर रहते हैं। वर्ष 1951-52 में प्रदेशों के व्यय का 29.4 प्रतिशत केन्द्र से प्राप्त हुआ था। वर्ष 1966-67 के संशोधित आँकड़ों के अनुसार यह अनुपात 55.3 प्रतिशत हो गया है। इसी अवधि में केन्द्रीय अनुदान प्रदेशों के व्यय के 7 प्रतिशत से बढ़कर 19 प्रतिशत हो गया। निश्चित ही यह स्थिति उत्तरदायी शासन की भावना के प्रतिकूल है, इसे बदलना होगा। इस हेतु संविधान में संशोधन की मांग की जा रही है। मैं समझता हूँ कि संविधान में संशोधन के स्थान पर बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप कोई लचीली व्यवस्था अधिक उपयुक्त होगी।

वित्त आयोग की नियुक्ति प्रति पाँच वर्ष के स्थान पर स्थायी कर दी

जाये तथा अनु%छेद 282 के अंतर्गत निर्दिष्ट अनुदान एवं गणों को भी उसकी विचार कक्षा में सम्मिलित कर लिया जाये तो यह उद्देश्य सिद्ध हो सकता है।

कर-पद्धति का पुनर्विचार

इसी सन्दर्भ में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि प्रदेशों को भी अपने राजस्व स्त्रोतों के भली-भाँति दोहन का विचार करना चाहिए। कर-भार में कमी तथा कर-वसूली की पद्धति में सरलता की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भी यह कहना पड़ता है कि अनेक प्रदेशों की कर-नीति के निर्धारण में राजनीतिक नारों का प्रभाव अधिक तथा प्रशासनिक जिम्मेदारी की भावना कम दिखती है। भू-राजस्व, आयकर, बिक्रीकर आदि की बारे में आज काफी क्रांतिकारी विचार रखे जा रहे हैं। अच्छा हो कि इन सबका शास्त्र-शुद्ध विचार कर लिया जाये क्योंकि ये सभी कर काफी समय से चले आ रहे हैं तथा राजस्व के महत्वपूर्ण स्त्रोत हैं। अन्यथा भी सम्पूर्ण कराधान की जाँच के लिए एक आयोग की आवश्यकता हैं। पिछला आयोग वर्ष 1953-54 में बैठा था। तब योजना का प्रारंभ ही था। अब तीन योजनाएँ समाप्त हो चुकी हैं। केन्द्र और प्रदेशों की करों से आय वर्ष 1951-52 में कुल 638 करोड़ रुपये थी जो अब वर्ष 1967-68 के बजट के अनुसार 3599 करोड़ रुपये अनुमानित है। इस बीच में भू-राजस्व दोगुना आयकर और कम्पनी कर चौगुना, बिक्रीकर नौगुना तथा उत्पादन शुल्क अठारह गुना हो गया है इन करों की दरों में समय-समय पर तात्कालिक आधार पर वृद्धियां हुई हैं। और वे बाद में स्थायी बना दी गयी है। कुछ वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क, बिक्रीकर तथा चुंगी सभी कर लगे हैं जिनसे उनके मूल्यों में भारी वृद्धि हो जाती है। पिछले पन्द्रह वर्षों में आय के वितरण में अंतर आया है। रुपये की कीमत गिरी है। राज्यों की पुनर्रचना हुयी है। योजना के संबंध में भी पुनर्विचार हो रहा है। अत: सभी दृष्टियों से यह आवश्यक है कि एक लोक-कल्याण, विषमताओं में कमी तथा विकेन्द्रित प्रशासन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण कर-पद्धति तथा विभिन्न करों के सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन दे।

अवमूल्यन से लाभ नहीं हुआ

देश की आर्थिक स्थिति, जो पिछले वर्षों से चिन्ता का कारण रही है, इधर अधिक बिगड़ी है। मंदी के लक्षण 1965 के प्रारंभ से ही दिखने लगे थे। पाकिस्तान के साथ लड़ाई के समय विदेशी सहायता और माल को आयात बन्द हो जाने के कारण उन उद्योग धन्धों को भारी आघात पहुँचा जो कलपुर्जों और कच्चे माल के लिए विदेशों पर निर्भर थे। किन्तु उस समय देश मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थिति का मुकाबला करने के लिए तैयार था। फलत: एक बड़े पैमाने पर आयात-प्रतिस्थापन के कार्यक्रम लिये गए तथा यह विश्वास हो चला था कि शीघ्र ही हम स्वावलम्बी हो जाएँगे। इसके पूर्व कि ये प्रयास फल लाते, शासन ने विदेशी दबाव में आकर रुपये का अवमूल्यन कर दिया तथा 750 करोड़ रुपये के मुक्त विदेशी गण के भरोसे उदार आयात नीति का अवलम्बन किया। इस नीति का देश के उद्योग धन्धों पर उल्टा ही असर हुआ। मूल्य और विदेशी गणों में तो वृद्धि हो गयी, किन्तु औद्योगिक उत्पादन की गति नहीं बढ़ी। कुछ उद्योगों में तो वर्ष 1966 में 1965 की तुलना में उत्पादन कम हुआ। सरकार का निर्यात-वृद्धि का उद्देश्य भी सिद्ध नहीं हो पाया। व्यापार खाते में वर्ष 1966-67 में भारत का भुगतान-सन्तुलन 773.4 करोड़ रुपये प्रतिकूल रहा जो पिछले सभी वर्षों से अधिक है। विदेश-व्यापार का यही रूख अभी तक बना हुआ है। अवमूल्यन के इतने हानिकारक परिणाम सामने आने के बाद भी प्रतीत होता है कि अंतर्राष्ट्रीय शक्तियाँ एक बार और अवमूल्यन कराने का प्रयास कर रही है। उपप्रधानमंत्री और वित्त मंत्री जी श्री मोरारजी देसाई ने त्याग-पत्र की धमकी देकर दृढ़ता तो दिखाई है, किन्तु जब तक उन कारणों को दूर नहीं किया जाता जिनसे विदेशी विनिमय का सन्तुलन हमारे प्रतिकूल रहता है तथा हमें विदेशों के सामने याचक बनकर जाना पड़ता है, जब तक रुपये की कीमत को टिकाये रखना संभव नहीं होगा।

काम चलाऊ उपायों से काम नहीं चलेगा

लगातार बढ़ती हुई मंदी को दूर करने तथा अर्थव्यवस्था को गति देने के लिए व्यापक उपायों की आवश्यकता है। यह खेद का विषय है कि शासन न तो इसकी गंभीरता को समझा है और न उसने गहरा अध्ययन ही किया है। एकाध पहलू का विचार कर तात्कालिक उपायों से काम नहीं चलेगा। विदेशी कच्चे माल की कमी को मंदी का एकमेव कारण मानकर जून 1966 में अवमूल्यन किया गया। इस वर्ष का बजट प्रस्तुत करते समय सूखे और कृषि-उपज की कमी को उसका कारण समण्कर अगली अच्छी फसल की आशा में

इस ओर दुर्लक्ष्य कर दिया। अब रेल विभाग के आदेशों के सहारे कुछ इंजीनियरी उद्योगों को जिंदा रखने की कोशिश की जा रही है, किन्तु यह नहीं सोचा गया कि रेलों के विस्तार की योजना स्थगित करने के बाद ये आदेश अपव्यय ही सिद्ध होंगे।

ध्यान बँटाने वाले प्रश्न

आज जब आर्थिक नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है, तब केन्द्र में काँग्रेसी शासन अपना सम्पूर्ण समय और शाक्ति ऐसे प्रश्नों पर लगा रहा है जो विचारणीय होते हुए भी आज की समस्या के हल करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। प्रिवी पर्सों का मामला है, हजारी रिपोर्ट की चर्चा, बैंकों और आम बीमा के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव आदि आज के बहुचर्चित एवं ज्वलंत समझने जाने वाले प्रश्नों का संबंध देश की विकट खाद्य स्थिति, गिरती हुई पैदावार, बढ़ती हुई बेकारी तथा चढ़ते हुए दामों से दूरान्वयन के साथ भी नहीं आता। और जब इन प्रश्नों पर बार-बार विवाद तो हो, किन्तु दो-टूक निर्णय न लिया जाय तो यह मानने को मजबूर होना पड़ता है कि सम्पूर्ण चर्चा का उद्देश्य या तो जनता का ध्यान %वलंत प्रश्नों से हटाना है या राजनीतिक दबाव लाना है।

बैंको का सामाजिक नियंत्रण

संसद के पिछले अधिवेशन में वित्त मंत्री श्री मोरारजी देसाई ने बैंको के विषय में एक जाँच आयोग बनाने की तथा उनके सामाजिक नियंत्रण की अपनी योजना का एक वक्तव्य दिया है। जब वित्त मंत्री यह अनुभव करते है कि सम्पूर्ण मामले की जाँच करने के लिए एक कमीशन चाहिए तो अच्छा होता कि वे उसके प्रतिवेदन के लिए रूकते तथा अपनी सामाजिक नियंत्रण की योजना को पेश करने में जल्दबाजी नहीं करते। आज की असली समस्या तो अधिक पूँजी-निर्माण की है। सामाजिक नियंत्रण से पूँजी तो नहीं बढ़ेगी। इसमें भी संदेह है कि बैंको में जो रूपया जाम है, उसका इस योजना के अंतर्गत अधिकतम अच्छा उपयोग हो सकेगा। खेती और छोटे उद्योगों के लिए पूँजी लगायी जा रही है, क्या वे बिना पूँजी के चल सकेंगे या वे उद्योग अनावश्यक है? संचालक-मंडल में छोटे उद्योगों तथा कृषि के प्रतिनिधि रखने का विचार अच्छा है। परन्तु इनका चयन कैसे होगा ? क्या वे नामजद होंगे? निश्चित ही अधिकांश का नामांकन राजनतिक आधार पर ही किया जायेगा। संचालक-मंडल में खातेदारों को क्यों प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। विदेशी बैंको को इस योजना के बाहर रखा गया है। इसका असर निश्चित ही देशी बैंको पर प्रतिकूल पड़ेगी। अच्छा हो कि सरकार इस प्रकार राजनीतिक योजनाओं के स्थान पर कुछ नये बैंक खोलकर पूँजी की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करे।

योजना को छुट्टी मत दो

योजना आयोग से भी हमें निराशा हुई है। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को 1 अप्रैल, 1969 से प्रारंभ करने का सुझाव रखकर उसने योजना की छुट्टी करने की बात मान ली है। आज छुट्टी नहीं, अधिक काम की जरूरत है। जब स्थिति गंभीर हो, तब तो और अधिक सोच-विचार के साथ योजनापूर्वक काम करना चाहिए अभी तक की योजनाओं के कारण अर्थव्यवस्था में जो तनाव या दरारें पैदा हो गयी हैं उन्हें दूर करते हुए ऐसे कार्यक्रम अपनानें होंगे जिससे विकसित क्षमता का भी पूरा-पूरा उपयोग किया जा सके। जिस तरह मनमाने ढंग से पिछले दो वर्ष की योजनाओं की काट-छाँट की गयी है, वह मंदी और प्रशिक्षित व्यक्तियों की बेकारी के लिए बहुत अंश में जिम्मेदार है। योजना के उत्पादक परिव्यय तो कम कर दिये गये, किन्तु शासन का अनुत्पादक खर्चा बढ़ा है। संतुलित बजट बनाने का यह तरीका आर्थिक विकास की दृष्टि से गलत है। मंदी से राजस्व की आय गिरती है। दूसरी और प्रशासन-व्यय बढ़ने के कारण मूल्य बढ़ते हैं। फलतः कोशिशों के बावजूद घाटे की अर्थव्यवस्था टाली नहीं जा सकेगी। इस विषय में किताबी सूत्रों पर निर्भर न रहकर व्यावहारिक उपाय अपनाने चाहिए। बेकार क्षमता का उपयोग करने तथा आशुफलदायी क्षमता उत्पन्न करने के लिए यदि घाटे की अर्थव्यवस्था का सहारा लिया जाये तो वह लाभदायक ही सिद्ध होगी।

योजना आयोग को एक विशेषज्ञ के रूप में काम करना चाहिए था तथा आज की समस्याओं का निदान करने उनके समाधान के लिए तात्कालिक एवं दूरगामी उपाय सुझाने चाहिए। नियोजन का अर्थ विभिन्न क्षेत्रों के लक्ष्य निश्चित करना और उनका गणित के अनुसार समीकरण बिठाना मात्र नहीं है। नियोजन के लिए कल्पकता, दूरदर्शिता और व्यावहारिकता की नितांत आवश्यकता हे। अभी तक की योजनाओं में इनका अभाव रहा है।

आर्थिक स्वाधीनता चाहिए

साधनों के अभाव का राग सदैव अलापा जाता है। मैं यह नहीं मानता कि देश में साधनों की कमी है। हमारे पास मानव, प्राकृतिक तथा वित्तीय, सभी प्रकार के साधन पर्याप्त है। आवश्यकता है कि वर्तमान तथ विकासमान साधनों के अनुरूप योजना बनायी जाय।

आज तक योजना का आधार विदेशी साधन, मशीन, तंत्रज्ञ, पूँजी – और अब कच्चा माल तथा बाजार भी रहा है। जो नहीं है उसकी प्राप्ति की तो योजना बनायी जाती है, किंतु जो है उसको बचाने का तथा उसके सहारे नये निर्माण का विचार नहीं किया जाता। हमने खेती और स्वदेशी उद्योगों की ओर दुर्लक्ष्य किया और हमारे लिए अहितकर एवं अप्रतिष्ठाकारक शर्तों पर भी विदेशी गठबन्धनों का स्वागत किया। विदेशी निहित स्वार्थ आज इतने प्रबल हैं कि वे देश के आर्थिक कार्यक्रमों का ही नहीं अपितु आर्थिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक क्षेत्र की नीतियों को भी प्रभावित करने का प्रयत्न कर रहे है। यदि हमें स्वतंत्रता बचानी है। तो आर्थिक क्षेत्र में स्वावलंबी बनना होगा। भावी योजनाएँ इसी आधार पर बनायी जाएँ।

कृषि की समस्याएँ

कृषि को प्राथमिकता देने की घोषणा तो कई वर्षों से की जा रही है, किन्तु शासन ने जो नीतियां अपनायी है उनमें किसान के हितों का तथा कृषि की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखा गया। भारत में उर्वरक दुनिया के सभी देशों के मुकाबले महँगा बिकता रहा है। 55 करोड़ रुपये की सहायता जो शासन इस मद में देता था वह पिछले केन्द्रीय बजट में समाप्त कर दी गयी। विदेशी कंपनियों को यहाँ उर्वरक के कारखाने खोलने की अनुमति दी गयी है और उन्हें मनमाने दामों पर अपने उत्पादन बेचने की छूट दे दी गयी। सत्य तो यह है कि यदि किसान की ईंधन की आवश्यकताएँ मृदु कोक से पूरी कर दी जाएँ और उसे गोबर को खाद के रूप में प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय तो हमें उर्वरकों के नये कारखानों की आवश्यकता नहीं रहेगी। व्यावहारिक आर्थिक अनुसंधान की राष्ट्रीय परिषद् की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि 'भारत प्रतिवर्ष दस सिन्द्रियाँ जला देता है।' किन्तु हम घर की चीजों को छोड़कर बाहर वालों को बुलावा दे रहे हैं।

कुछ जिलों को छाँटकर सघन खेती का जो कार्यक्रम बनाया गया है वह पक्षपातपूर्ण है तथा कुल मिलाकर खेती से अधिकतम उत्पादन के लक्ष्य को पूरा नहीं करता। बिना खाद के केवल उर्वरकों के अधिकाधिक प्रयोग से भूमि की उर्वरा शक्ति पर प्रतिकूल परिणाम होगा। उस दिन की कल्पना करके दिल एकदम सिहर जाता है जब आज की अदूरदर्शी नीतियों के परिणामस्वरूप तंजौर, लुधियाना, जैसे हरे भरे जिले ऊसर हो जाएँगे। हमें इस दुष्परिणाम से बचना ही चाहिए।

सिंचाई की ओर ध्यान तो अवश्य गया है, किन्तु सरकार के काम का ढंग कुछ ऐसा है कि 'का पानी जब कृषि सुखानी' की उक्ति ही चारों ओर सुनाई देती है। प्रान्तीय व्यामोह कुछ इतना बढ़ गया है कि करोड़ों क्यूसेक पानी समुद्र में तो फेंक देते हैं, किन्तु नदी – पानी के बँटवारे के प्रश्न पर हम एक इंच भी झुकने को तैयार नहीं है। नलकूपों के लिए, बिजली की दर 12 पैसे यूनिट का निर्णय स्तुत्य है, परन्तु नलकूपों को बिजली मिले तब तो इस दर पर पैसा चुकाने का सवाल पैदा होगा।

मूल्य–नीति और कृषि

गगा – वसूली की योजनाओं ने तो किसान के पेट पर बुरी तरह लात मारी है। इस मामले में केरल तो सबसे बाजी मार ले गया है। यहाँ तो दफ्तर में बैंठे हुए बाबू तय करते हैं कि किस किसान के खेत में कितना पैदा हुआ तथा उसको कितना खाना चाहिए। शेष सभी उसे सरकारी गोदाम में जमा कराने के आदेश दिया जाता है। केन्द्र ने विभिन्न फसलों के जो मूल्य निश्चित किये हैं वे पूर्णतः अनार्थिक हैं। मूल्य की स्थिरता आवश्यक है। किन्तु उसके लिए किसान को अपनी फसल के उचित और पूरे मूल्यों से वंचित रखना अन्यायपूर्ण एवं आत्मघातक होगा। मूल्य–नीति का प्रमुख उद्देश्य उत्पादकों – विशेषकर प्राथमिक उत्पादकों की आय को नीचे गिरने से बचाना होना चाहिए, क्योंकि कृषि आय ही तो शेष अर्थव्यवस्था को टिकाने का और उसके विकास का साधन बनती है।

सस्ते गगे के लिए सहायता

यह सत्य है कि खाद्यान्न के बढ़े हुए मूल्यों से नगरवासी तथा कम और निश्चित आय वालों के लिए भारी कठिनाई पैदा हो गयी है। उन्हे सस्ते भावों

पर जीवन की आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध की जानी चाहिए। यदि मद्रास सरकार कुछ नगरों में 'एक रुपये का एक माप' की योजना के अनुसार चावल बेच सकती है तो कोई कारण नहीं कि देशभर के नगरों में इस योजना को लागू न किया जा सके। महँगाई भत्ते को महँगाई से जोड़ना आवश्यक है। यह खेद का विषय है कि शासन ने इस नियम को स्वीकार नही किया, जिससे यह प्रश्न विवाद एवं औद्योगिक अशांति का कारण बन जाता है। श्रमिकों और कर्मचारियों के अतिरिक्त पेंशन पानेवालों को भी महँगाई भत्ता मिलना चाहिए। तथा उनकी पेंशन की मात्रा का निर्धारण विद्यमान वेतन-स्तर के अनुपात में होना चाहिए।

खाद्य-क्षेत्र तोड़ो

खाद्यान्नों के राज्य-क्षेत्र तथा विभिन्न वस्तुओं के लाने ले जाने पर लगायी गयी रोक आर्थिक दृष्टि से गलत तथा संविधान की भावना के प्रतिकूल है। इस प्रकार की रोकों से वितरण का स्वाभाविक प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। जिससे मानवजनित अभाव पैदा होता है तथा तस्कर व्यापार और चोर बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है। यह नीति राष्ट्रीय एकात्मता के मार्ग में बाधक है। अन्न जैसे प्रश्न पर भी जब हम व्यापक दृष्टिकोण से विचार नहीं कर सकते तथा प्रान्तों की आपाधापी का शिकार बन जाते हैं तो फिर राष्ट्रीय एकता का और कौन-सा व्यावहारिक रूप होगा? प्रतीत होता है कि इस नीति के पीछे घूसखोर अफसर, भ्रष्ट और सत्तालोलुप राजनीतिज्ञ तथा बड़े-बड़े तस्कर व्यापारियों के निहित स्वार्थ विकसित हो गये हैं जो तर्क को सिरे नहीं चढ़ने देते।

राष्ट्रीय स्तर पर प्रश्नों का विचार हो

देश की आर्थिक समस्याओं को दूर करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर स्पष्ट कल्पना, योजना, प्रयत्न और नेतृत्व के अभाव मे प्रत्येक प्रदेश और वर्ग अपनी-अपनी चिंता कर रहा है। "Every man for himself and devil takes the hindmost" अर्थात् आप अपनी फिक्र कर लीजिए और बचे हुओं को भाड़ में जाने दीजिए' की अँग्रेजी कहावत ही चरितार्थ हो रही है। जाने या अनजाने में इससे प्रादेशिकता को बढ़ावा मिलता है। जब केरल के मुख्यमंत्री श्री नम्बूद्रीपाद केरल की कमायी हुई विदेश मुद्रा को बाहर से अन्न मँगाने के लिए माँग करते हैं या केन्द्र के विरोध में केरल बंद का आह्वान करते हैं तो निश्चित ही वे देश की एकता को एक धक्का पहुँचाते हैं। इसी प्रकार जब शिवसेना महाराष्ट्रवासियों के लिए न्याय के नाम पर दूसरे प्रदेश वालों की बम्बई मे नौकरी या व्यापार के विरुद्ध आवाज उठाती है तो वह समस्याओं के सही स्वरूप को भूल जाती है। सम्पूर्ण देश के आर्थिक हित जुड़े हुए हैं। देश की बेकारी और गरीबी मिलकर ही दूर की जा सकती है।

अंतरप्रान्तीय सीमा-विवाद

देश की राजनीतिक समस्याओं के समाधान में हमें इस एकता के दृष्टिकोण को नहीं भुलाना चाहिए। आज प्रान्तों के बीच कुछ सीमा के विवाद हैं। इन्हे उन सिद्धांतो को ध्यान मे रखकर, जिनके आधार पर देश मे प्रान्तों की पुनर्रचना हुई, सुलझा लेना चाहिए। भारतीय जनसंघ यह तो मानता है कि इन तत्वों में भाषा भी एक है, किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि वह एकमेव कसौटी है। भाषा का प्रशासन में, विशेषकर प्रजातंत्रीय प्रशासन में,महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए सामान्यतया भाषाई सीमाएँ ही प्रदेशों की सीमाएँ बन गयी हैं। किन्तु कुछ लोग भाषा का इतना अतिरेकी एवं एकान्तिक विचार करते हैं कि उससे उपराष्ट्रवाद की बू आने लगती है। जनसंघ इसे उचित नहीं समझता। मैसूर-महाराष्ट्र तथा मैसूर-केरल के बीच के विवाद को सुलझाने के लिए महाजन आयोज की नियुक्ति हुई थी। निश्चित ही आयोग का प्रतिवेदन इस विवाद को हल करने में सहायक होना चाहिए। किन्तु यह तभी संभव हैं कि जब झूठी प्रतिष्ठा और आवेश का त्यागकर इस प्रश्न पर विचार हो। जनमतसंग्रह आदि के सुझाव अतर्कसंगत हैं। सीमा-निर्धारण संसद् का कर्तव्य है तथा उसे अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए।

असम की पुनर्रचना

असम की पुनर्रचना के प्रश्न को केन्द्रीय नेताओं ने काफी उलझा दिया है। आम चुनाव के पूर्व गृहमंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण द्वारा असम को एक संघ बनाने की घोषणा एक राजनीतिक भूल थी, जिसका परिमार्जन करना अब उनके लिए कठिन हो रहा है। वास्तविकता तो यह है कि संविधान के छठे परिशिष्ट में असम के पहाड़ी जिलों को अलग से स्थान देकर पृथक्ता के जो बीज बोये गये थे, उनके ही फल आज मिल रहे हैं। तीन लाख की जनसंख्या वाले नगाप्रदेश अलग से राज्य बनाने के बाद इस प्रवृत्ति को और बढ़ावा मिला। इन विघटनकारी तत्वों को प्रेरणा और मार्गदर्शन देने का काम वहाँ के

विदेशी पादरियों ने किया है। जब तक इन सभी प्रश्नों का गंभीरतापूर्वक विचार कर नीति नहीं अपनायी जाती, तब तक थेगली लगाने से काम नहीं चलेगा।

हिन्दू नगा क्यों नहीं?

छिपे नगाओं से शासन लम्बे अर्से से बातचीत कर रहा है। किन्तु अभी तक उसका कोई परिणाम नहीं निकला। दूसरी ओर यह भी समाचार है कि विद्रोही नगा कम्यूनिस्ट चीन के साथ साँठगाँठ कर रहे हैं। साथ ही समय-समय पर उनकी ओर से हिंसात्मक कार्यवाहियाँ भी होती रहती है। मणिपुर के क्षेत्र मे विशेषकर उन्होंने अपनी गतिविधियाँ तेज की हैं। स्पष्ट है कि उग्रवादी तत्व बातचीत का लाभ उठाकर किसी बड़े विद्रोह की तैयारी कर रहे हैं। भारत सरकार को सतर्कता बरतनी चाहिए तथा विद्रोही तत्वों को शांतिप्रिय नगाओं से अलग करके उनके साथ दृढ़ता से काम लेना चाहिए। नगाक्षेत्र के संबंध मे यह भी कहना समीचीन होगा कि वहाँ आधे से अधिक हिन्दू नगा रहते हैं। भारत सरकार ने अभी तक जो कुछ बातचीत की है वह बैबटिस्ट मिशन के माध्यम से की है। हिन्दुओं की जनजातियों को कभी प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। आवश्यकता है कि इनके हितों और अधिकारों की ओर दुर्लक्ष न किया जाय।

कश्मीर पर पीछे-हट असह्म

मिर्जा अफ़ज़ल बेग के ऊपर से प्रतिबंध हटाने तथा शेख अब्दुला को दिल्ली में मुक्त कर देने के बाद वे तत्व फिर से सक्रिय हो गये हैं जो कश्मीर को भारत से अलग कर देना चाहते हैं। उनके तर्क यद्यपि थोथे सिद्ध हो चुके हैं तथा जनता ने सम्पूर्ण देश में और कश्मीर में भी उनके सुझावों को अराष्ट्रीय और अव्यावहारिक मानकर ठुकरा दिया है, फिर भी वे समय-कुसमय अपनी रट लगाने से बाज नहीं आते। पाकिस्तान से मित्रता का लालच दिखाकर वे भारत-शासन का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे हैं। किन्तु अब समय आ गया है कि इस शांति और न्याय के स्वयंभू संरक्षकों को, पाकिस्तान को तथा अन्य दूसरी शक्तियों को, जो इस प्रश्न पर दखल देती हैं, हमें बता देना होगा कि कश्मीर भारत की सार्वभौम सत्ता का अविभा%य अंग है तथा उसके बारे में कोई समझौता नहीं हो सकता। यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ अथवा उसकी कोई भी एजेंसी इस विषय में दखल दे तो हमें उसे भी अस्वीकार कर देना चाहिए। कुछ लोग कश्मीर को शेष भारत के अन्य प्रान्तों के मुकाबले अधिक स्वायत्तता की वकालत करते हैं। यह विचार पृथक्तावादी तथा भारत की राष्ट्रीय एवं संवैधानिक मान्यताओं के खिलाफ है। हम असंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि भारतीय जनसंघ और देश की जनता ऐसे किसी भी कदम को बर्दाश्त नहीं करेगी जिसमें भारत के साथ कश्मीर के पूर्ण एकीकरण की प्रक्रिया को उलटा जाय। यद्यपि संविधान का अनुच्छेद 370 हमारी अपनी व्यवस्था है तथा उसके कारण काश्मीर की भारत संघ के अटूट अंग होने के विषय में किसी भी प्रकार की अनिश्चितता नहीं पैदा होती, फिर भी वह एक अपवादजनक प्रावधान है; उसे समाप्त कर देना चाहिए उसका अब कोई व्यावहारिक महत्व नहीं बचा है, किन्तु उसकी समाप्ति का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत लाभ होगा। कश्मीर के बारे में जो तरह-तरह की अटकलबाजियाँ लगायी जाती हैं, वे सब बंद हो जाएँगी।

सादिक सरकार की असफलता

जम्मू और कश्मीर राज्य के आंतरिक प्रशासन की ओर भी केन्द्र को ध्यान देना चाहिए। श्री सादिक, राज्य को एक स्वच्छ, निष्पक्ष एवं सुदृढ़ प्रशासन देने में असमर्थ रहे हैं। पिछले दिनों एक हिन्दू बालिका के अपहरण एवं बलात् विवाह के मामले पर पुलिस ने तथा शासन ने जिस प्रकार उदासीनता, उपेक्षा तथा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से व्यवहार किया, उससे कश्मीर घाटी के हिन्दुओं में असंतोष तथा आशंकाएँ पैदा हुई हैं। केन्द्रीय गृहमंत्री से भी अपने वचनों का पालन न करने की शिकायत वहाँ के लोगों को रही है। यह उचित नहीं है कि किसी भी वर्ग में इस प्रकार न्याय न मिलने की तथा असुरक्षा की भावना पैदा हो। जम्मू और कश्मीर शासन ने नौकरियों आदि में प्रतिनिधित्व के प्रश्न की जाँच के लिए एक आयोग सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गड़कर की अध्यक्षता में बनाया है। जहाँ तक क्षेत्रीय आधार पर भेदभाव का प्रश्न है, आयोग को अवश्य जाँच करनी चाहिए। किन्तु साम्प्रदायिक आधार पर जाँच का प्रस्ताव देश के संविधान की भावना तथा व्यवस्थाओं के प्रतिकूल है।

सांप्रदायिक दंगे व निहित स्वार्थ

पिछले दिनों देश के विभिन्न नगरों में कुछ साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं। ये घटनाएँ दुर्भाग्यपूर्ण एवं निंदनीय हैं। जहाँ तक प्रशासन का संबंध है उसे अशांति

और उपद्रव की इस प्रकार की घटनाओं को दबाने और रोकने के लिए बिना किसी भेदभाव तथा हिचक के दृढ़तापूर्व कदम उठाने चाहिए। किन्तु मैं इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि सम्प्रदायिक दंगों के लिए प्रशासन की नीति और व्यवहार निश्चित करने की जो संहिता प्रचलित है वह अँग्रेजी जमाने की बनी हुई है। उसका मूल उद्देश्य शरारती तत्वों की रोकथाम तथा दोषी को दंड दिलाना न होकर ऊपर से निष्पक्षता का दिखावा करना तथा वास्तव में दोनों समाजों के बीच की खाई को बढ़ाना ही था। इस तथाकथित बराबरी की कार्यवाही की संहिता को बदलकर उपद्रवियों के विरुद्ध कार्यवाही की नीति अपनानी चाहिए।

देश में ऐसे तत्व हैं जिनका इस प्रकार के दंगों में राजनीतिक स्वार्थ विकसित हो गया है। फलत: वे इन अवांछनीय घटनाओं को सीमित करने और दबाने के बजाय उन्हें अपने मतलब का रंग देकर चारों ओर ले उड़ते हैं। घटना चाहे जैसी हो, उनकी व्याख्या और प्रचार की लाइन तय है। इनके अनुसार हर स्थान पर मुसलमान मारे जाएँगे और मारने वालों में भारतीय जनसंघ तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता होंगे। कई बार तो जहाँ संघ और जनसंघ की शाखा भी न हो वहाँ भी इनके अखबारों में शाखाएँ खुल जाती है। उनकी ये हरकतें उन गिरहकरों और उठाईगीरों की चाल के समान है जो लोगों को तथा पुलिस को भी भ्रम में डालने के लिए चोर से विरुद्ध दिशा में चोर-चोर चिगाकर दौड़ने लगते हैं तथा किसी भी भले मानस को पकड़कर पीटने लगते हैं। तब तक असली चोर आराम से गायब हो जाता है। हमें इन तत्वों से सावधान रहना चाहिए।

भाषा

देश के कामकाज के लिए अपनी ही भाषाओं का प्रयोग व्यावहारिक एवं राष्ट्रीय स्वाभिमान दोनों ही दृष्टियों से आवश्यक है। इस वर्ष केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं को उच्चतम शिक्षा का माध्यम बनाने की दिशा में स्तुत्य पग उठाया है। यह निर्णय शिक्षा आयोग की सिफारिशों के अनुरूप ही है। तथा इसका अनुमोदन एवं समर्थन शिखा पर संसद की समिति, शिक्षा-मंत्रियों के सम्मेलन तथा विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों के सम्मेलन ने भी किया है। फिर भी कुछ अँग्रेजीपरस्त लोग इस निर्णय का विरोध कर रहे हैं वे जो समस्याएँ बता रहे हैं, उनमें से अधिकांश संक्रमण-काल की हैं तथा कुछ काल्पनिक अथवा इक्के दुक्के व्यक्तियों की। समस्याओं का हौवा खड़ा करने के बजाय उन्हें हल करने की ओर कदम बढ़ाना चाहिए।

विभिन्न प्रदेशों में गैर-काँग्रेसी सरकार बनने के बाद प्रादेशिक स्तर पर वहाँ की भाषाओं के प्रयोग मे काफी तेजी आयी है। इसी प्रकार दृढ़ता से काम किया गया तो कुछ ही महीनों में सम्पूर्ण राजकाज जनता की भाषा मे होने लगेगा। मैं उन सभ सरकारों को बधाई देता हूँ जो देश की भाषाओं को उनकी उचित स्थान दे रही हैं। वे राज्यों मे जनता का प्रतिनिधित्व करती है।

केन्द्र मे अँग्रेजी के स्थान पर हिन्दी के प्रयोग में शासन की नीति के कारण बराबर कठिनाइयाँ आ रही हैं। यह खेद का विषय है कि काँग्रेस शासन ने इस दिशा में सकारात्मक पग उठाने के बजाय विवाद और आकांक्षाएँ पैदा करने का ही काम किया है। जनसंघ ऐसे किसी कदम का समर्थक नही जिससे हिन्दी न जानने वालों को किसी भी अधिकार से वंचित रहना पड़े। इस हेतु जनसंघ ने यह माँग की है कि संघ सेवा आयोग की सभी परीक्षाएँ प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से हों तथा भर्ती के लिए किसी भी भाषा-विशेष के ज्ञान की बाध्यता न रहे। संक्रमण-काल में जो अँग्रेजी का प्रयोग करना चाहें उन्हें भी सुविधा दी जा सकती है, किन्तु अँग्रेजी का प्रभुत्व तो निर्बाध बना रहे तथा हिन्दी के प्रयोग की भी छूट न हो, यह बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। हाल मे जो राजभाषा संशोधन विधेयक तथा प्रस्ताव पारित हुआ है, वह एक गलत दिशा में कदम है। इसके अनुसार केन्द्र की जो भाषा-नीति चलेगी उससे उन राज्य-सरकारों के मार्ग में भी कठिनाई पैदा होगी जो प्रांतों में प्रादेशिक भाषाओं को चलाना चाहती हैं। मद्रास में तब तक तमिल का बोलबाला नहीं हो सकता जब तक दिल्ली में अँग्रेजी का प्रभुत्व कायम है।

अरब राष्ट्र सोचें

भारत-शासन की विदेश-नीति न तो जनभावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है और न राष्ट्र के हितों का संरक्षण। पश्चिम के संघर्ष में उसने जो नीति अपनायी, उसे जनता का समर्थन नहीं मिल सका। जब ब्रिटेन ने स्वेज पर बमबारी की थी तब हिन्दुस्तान की जनता ने भारी रोष प्रकट किया था। हम लोग सदैव से अरब देशों की मित्रता के हामी रहे हैं। किंतु जब भारत पाक

संघर्ष में हमारे प्रति सरासर अन्याय होते हुए भी अरब देशों ने हमारे साथ मौखिक सहानुभूति भी प्रकट नहीं की, बल्कि जोर्डन ने हमारे विरुद्ध पाकिस्तान की वकालत की, तो भारत की जनता को अरबों से भारी निराशा हुई। यह निराशा ही लोगों में बदले हुए रूख के लिए जिम्मेदार है। यदि अरब देश वास्तव में भारत की मित्रता चाहते हैं तो उन्हें हमारी भावनाओं को समझना होगा। जब अरब देश हमारे शत्रु देशों के साथ संबंध रख सकते हैं तो हम अपने ऊपर भी यह बंधन नहीं लगा सकते कि हम इस्राइल के साथ कोई संबंध न रखें।

चीन-पाकिस्तान गठबंधन

कम्युनिस्ट चीन और पाकिस्तान दोनों के प्रति हमारी नीति वही होनी चाहिए जो आक्रमणकारी शत्रु देश के प्रति किसी भी स्वाभिमानी राष्ट्र की होती है। आश्चर्य का विषय है कि हमने फारमोसा की सरकार को अभी तक मान्यता नहीं दी। तिब्बत की स्वतंत्रता के लिए हमारा सक्रिय योगदान होना चाहिए। दलाई लामा के प्रति हमारी नीति इस उद्देश्य की पूर्ति में साधक न होकर बाधक ही सिद्ध हो रही है। पाकिस्तान द्वारा ताशकंद घोषणा को रद्दी के टोकरे में डालने के बाद भी हमारे नेताओं द्वारा उसकी रट लगाये जाना हास्यास्पद् है। ऐसा प्रतीत होता है कि सोवियत रूस की पाकिस्तान के प्रति नीति में परिवर्तन आने के कारण हम भी रूसी नेताओं को खुश करने के लिए पाकिस्तान के साथ दोस्ती का राग अलापते रहते हैं। प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा मास्को जाते समय पाक प्रधान अय्युब खाँ को दिये गये संदेश में माँगला बाँध के निर्माण पर बधाई देने का और कोई कारण नहीं नजर आता। पाकिस्तान के प्रति हमारी नीति उसके व्यवहार के आधार पर निश्चित न होकर यदि रूस या अमरीका के इशारे पर तय होगी तो भारतखंड में कभी शांति नहीं रह सकेगी।

चीन और पाकिस्तान दोनों मिलकर अगले आक्रमण की तैयारी कर रहे हैं। हम उनकी दुरभिसंधि और योजनाओं से बेखबर नहीं रह सकते। पिछले दिनों में देश की सैनिक तैयारी में कुछ बढ़ोत्तरी अवश्य हुई है। फिर भी वह आवश्यकता से बहुत कम है। चीन ने परमाणु-अस्त्रों की दिशा में काफी प्रगति कर ली है। भारत सरकार अभी तक अपने पुराने हठवाद पर ही कायम है। हमें ये अस्त्र बनाने होंगे। बिना उनके हमारी सुरक्षा सदैव संकटापन्न रहेगी।

माओवादियों का षडयंत्र

चीन और पाकिस्तान के संकट के संदर्भ में हमे उन तत्वों की गतिविधियों का भी विचार करना होगा जो उनसे सैद्धांतिक प्रेरणा लेकर उनकी योजना के अनुसार ही यहाँ पर काम कर रहे हैं। पश्चिम बंगाल और केरल में माओवादी कम्युनिस्टों के प्रतिनिधि सत्ता में भागीदार होने के बाद उनका साहस बढ़ा है तथा उन्होंने अपने मन्तव्यों को पूरा करने के लिए सत्ता का खुलकर दुरूपयोग किया है। एक ओर तो उन्होंने नक्सलवादी जैसे कांड करके कानून और व्यवस्था को भंग किया और दूसरी ओर पुलिस एवं प्रशासन को निष्क्रिय बनाने की भी कोशिश की।

देश को सचेत रहना होगा तथा देखना होगा कि ये तत्व कोई ऐसी अशान्ति पूर्ण स्थिति न पैदा कर दें, जिनका लाभ कम्युनिस्ट चीन और पाकिस्तान उठा लें। जब और जहाँ ये तत्व कानून और व्यवस्था की समस्या पैदा करें तथा देश की सुरक्षा के लिए खतरा बनें, वहाँ उनका कठोरता से दमन करना चाहिए। आवश्यक है कि उनका मुकाबला राजनीतिक स्तर पर भी किया जाय। देश की जनता की राष्ट्रवाद तथा प्रजातंत्र में गहरी निष्ठा है। वह उन तत्वों को सहन नहीं करेगी जो इन मान्यताओं के विरुद्ध चलते हैं

भारत सरकार ने हाल ही में गैर कानूनी कार्यवाही अधिनियम बनाकर जो अधिकार लिये हैं वे अनावश्यक एवं अनुचित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले चुनावों में हारने के बाद केन्द्र का काँग्रेस-शासन अपने आपको उन सभी हथियारों से लैस करना चाहता है, जिससे वह अपनी भ्रष्ट सत्ता को टिकाये रख सके।

जागरण की वेला

हमें उन लोगों से भी सावधान रहना चाहिए जो प्रत्येक जन-आंदोलन के पीछे कम्युनिस्टों का हाथ देखते हैं और उसे दबाने की सलाह देते हैं। जन-आंदोलन एक बदलती हुई व्यवस्था के युग में स्वाभाविक और आवश्यक हैं। वास्तव में वे समाज की जागृति के साधन और उसके द्योतक हैं। हाँ यह आवश्यक है कि ये आंदोलन दुस्साहसपूर्ण और हिंसात्मक न हो, प्रत्युत् वे हमारी कर्मचेतना को संगठित कर एक भावात्मक क्रांति का माध्यम बनें। एदतर्थ हमें उनके साथ चलना होगा, उनका नेतृत्व करना होगा। जो राजनीतिक,

आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में यथास्थिति बनाये रखना चाहते हैं। वे इस जागरण से घबराकर निराशा और आतंक का वातावरण बना रहे हैं हमें दुख है कि हम उनके साथ सहयोग नहीं कर सकते। वे कालचक्र की गति को थामना चाहते हैं, भारत की नियति को टालना चाहते हैं। यह संभव नहीं होगा। हम अतीत के गौरव से अनुप्राणित हैं, परंतु उसको भारत के राष्ट्र जीवन का सर्वोच्च बिन्दु नहीं मानते; हम वर्तमान के प्रति यथार्थवादी हैं, किन्तु उससे बँधे नहीं, हमारी आँखों में भविष्य के स्वर्णिम सपने हैं, किन्तु हम निद्रालु नहीं बल्कि सपनों को साकार करने वाले जागरूक कर्मयोगी हैं। अनादि अतीत, अस्थिर वर्तमान तथा चिरन्तन भविष्य की कालजयी सनातन संस्कृति के हम पुजारी हैं।

हमारा लक्ष्य

हमने किसी संप्रदाय या वर्ग की सेवा का नहीं बल्कि संपूर्ण राष्ट्र की सेवा का व्रत लिया है। सभी देशवासी हमारी बान्धव हैं। जब तक हम इन सभी बन्धुओं को भारतमाता के सपूत होने का सच्चा गौरव प्राप्त नहीं करा देंगे, हम चुप नहीं बैठेंगे। हम भारतमाता को सही अर्थों में सुजला, सुफला बनाकर रहेंगे। यह दशप्रहरणधारिणी दुर्गा बनकर असुरों का संहार करेगी; लक्ष्मी बनकर जन-जन को समृद्धि देगी और सरस्वती बनकर अज्ञानान्धकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैलायेगी। हिन्द महासागर और हिमालय से परिवेष्टित भारतखंड में जब तक एकरसता, कर्मठता, समानता, सम्पन्नता, ज्ञानवत्ता, सुख और शांति की सप्तजान्हवी का पुण्य-प्रवाह नहीं ला पाते, हमारा भगीरथ-तप पूरा नहीं होगा। इस प्रयास में ब्रह्मा, विष्णु और महेश सभी हमारे सहायक होंगे। विजय का विश्वास है, तपस्या का निश्चय लेकर चलें।

पं. दीनदयाल उपाध्याय का प्रसिद्ध व प्रेरक पत्र

(सन् 1942 में पंडित जी उत्तर प्रदेश के लखीमपुरी खीरी जिले के प्रचारक बने। अँग्रेजों के विरुद्ध भारत छोड़ो आंदोलन चल रहा था। मामाजी व मामी बहुत चिंतित थे। वे चाहते थे कि दीनदयाल को अच्छी सी नौकरी लग जाये और उसका विवाह कर दें। मगर दीनदयाल के जीवन स्वप्न कुछ और ही थे! इसी पृष्ठभूमि में यह पत्र मामा जी को लिखा। इस पत्र में तत्कालीन समाज की दशा दिख रही है। तथा संघ के प्रति दीनदयाल जी के विचार स्पष्ट प्रगट हुए हैं। अनेकों को यह पत्र प्रेरणादायक बना है और भविष्य में भी मार्गदर्शन करता रहेगा दीनदयालजी का यह पत्र)

लखीमपुर खीरी

तारीख - 21.07.1942, (21.07.1942)

श्रीमान मामा जी,

सादर प्रणाम

आपका पत्र मिला। देवी की बीमारी का हाल जानकर दु:ख हुआ। आपने अपने पत्र में जो कुछ भी लिखा सो ठीक ही लिखा है। इसका क्या उत्तर दूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता। परसों आपका पत्र मिला, तभी से विचारों का एवं कर्तव्यों का तुमुल युद्ध चल रहा है। एक ओर तो भावना और मोह खींचते हैं तो दूसरी ओर पुरखाओं की आत्माएँ पुकारती हैं। आपके लिखे अनुसार पहिले तो मेरा भी यही विचार था कि मैं किसी स्कूल में नौकरी कर लूंगा तथा साथ ही वहाँ का संघ-कार्य भी करता रहूँगा। यही विचार लेकर मैं लखनऊ आया था। परन्तु लखनऊ में आजकल की परिस्थिति तथा आगे कार्य का असीम क्षेत्र देखकर मुझे यही आज्ञा मिली कि बजाय एक नगर में कार्य करने के एक जिले में कार्य करना होगा। इस प्रकार सोते हुए हिन्दु समाज से मिलने वाले कार्यकर्ताओं की कमी को पूरा करना होता है। सारे जिले में काम करने

के कारण न तो एक स्थान पर दो चार दिन से अधिक ठहराना संभव है और न किसी भी प्रकार की नौकरी। संघ के स्वयंसेवक के लिए पहिला स्थान समाज और देश के कार्य का रहता है और फिर अपने व्यक्तिगत कार्यों का। अत: मुझे समाज कार्य के लिए जो आज्ञा मिली थी, उसका पालन करना पड़ा।

मैं यह मानता हूँ कि मेरे इस कार्य से आपको कष्ट हुआ होगा। परन्तु आप जैसे विचारवान् एवं गंभीर पुरुषों को भी समाज कार्य में संलग्न रहते देखकर कष्ट हो तो फिर समाज कार्य करने के लिए कौन आगे आएगा। शायद संघ के विषय में आपको अधिक मालूम न होने के कारण आप डर गए हैं। इसका काँग्रेस से, किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है और न किसी अन्य राजनैतिक संस्थाओं से यह आजकल की किसी भी राजनीति में भाग भी नहीं लेता है। न यह सत्याग्रह करता है और न जेल जाने में ही विश्वास रखता है। न यह अहिंसावादी है और न हिंसावादी ही। इसका तो एकमात्र कार्य हिन्दुओं में संगठन करना है। इसी कार्य को यह लगातार 17 साल से करता आ रहा है। इसकी सारे भारतवर्ष में 1000 से ऊपर शाखाएँ तथा दो लाख से अधिक स्वयंसेवक हैं। मैं अकेला ही नहीं परन्तु इसी प्रकार 300 से ऊपर कायकर्ता हैं जो एकमात्र संघ कार्य ही करते हैं। सब शिक्षित और अच्छे घरों के हैं। बहुत से बी.ए., एम.एम. और एल.एल.बी. पास हैं। ऐसा तो कोई शायद ही होगा जो कम से कम हाई स्कूल न हो और वह भी इने-गिने लोग।

इतने लोगों ने अपना जीवन केवल समाज-कार्य के लिए क्यों दे दिया, इसका एकमात्र कारण यही है कि बिना समाज की उन्नति हुए व्यक्ति की उन्नति संभव नहीं है। व्यक्ति कितना भी क्यों न बढ़ जाए, जब तक उसका समाज उन्नत नहीं होता, तब तक उसकी उन्नति का कोई अर्थ नहीं हैं। यहीं कारण है कि हमारे यहाँ के बड़े-बड़े नेताओं का दूसरे देशों में जाकर अपमान होता है। हरिसिंह गौड़ जो कि हमारे यहाँ के इतने बड़े व्यक्ति हैं, वे जब इंग्लैण्ड के एक होटल में गए तो वहाँ ठहरने को स्थान नहीं दिया गया, क्योंकि वे भारतीय थे। हिन्दुस्तान में ही आप हमारे बड़े से बड़े आदमी को ले लीजिए। क्या उसकी वास्तविक उन्नति है? मुसलमान गुण्डे बड़े से बड़े आदमी की इ%जत को पल में खाक में मिला देते हैं, क्योंकि वे स्वयं बड़े हो सकते हैं पर जिस समाज के वे अंग है वह दुर्बल हैं, अध:पतित है, शक्तिहीन और स्वार्थी है।

हमारे यहाँ हर एक व्यक्तिगत स्वार्थों में लीन है तथा अपनी ही सोचता है। नाव में छेद हो जाने पर अपने बोझे को आप कितना भी ऊँचा क्यों न उठाइए वह तो आपके साथ डूबेगा ही। आज हिन्दू समाज की यही हालत है। घर में आग लग रही है, परन्तु हरेक अपने-अपने घर की परवाह कर रहा है। उस आग को बुझाने का किसी को भी ख्याल नहीं है। क्या आप अपनी स्थिति को सुरक्षित समझते हैं? क्या आपको विश्वास है कि मौका पड़ने पर समाज आपका साथ देगा? नहीं, इसलिए नहीं कि हमारा समाज संगठित नहीं है, दुर्बल है, इसीलिए हमारी आरती और बाजों पर लड़ाइयाँ होती हैं। इसलिए हमारी माँ-बहनों को मुसलमान भगाकर ले जाते हैं, अँग्रेज सिपाही उन पर नि:शंक होकर दिनदहाड़े अत्याचार करते हैं। और हम अपनी बड़ी भारी इ%जत की दम भरने वाले, समाज में ऊँची नाम रखने वाले अपनी फूटी आँखों से देखते रहते हैं। हम उसका प्रतिकार नहीं कर सकते हैं। अधिक हुआ तो इस सनसनीखेज मामले की खबर अखबारों में दे दी या महात्माजी ने 'हरिजन' में एक आर्टिकल लिख दिया। क्यों? क्या हिन्दुओं में ऐसे ताकतवर आदमियों की कमी है जो उन दुष्टों का मुकाबला कर सकें? नहीं, कमी तो इस बात की है कि किसी को विश्वास नहीं है कि वह कुछ करे तो समाज उसका साथ देगा। सच तो यह है कि किसी के हृदय में इन सब कांडों को देखकर टीस ही नहीं उठती है।

जब किसी मनुष्य के किसी अंग को लकवा मार जाता है तो वह चेतनाशून्य हो जाता है। इसी भाँति हमारे समाज को लकवा मार गया है। उसको कोई कितना भी कष्ट क्यों न दें, कुछ महसूस ही नहीं होता है। हरेक तभी महसूस करता है जब चोट उसके सिर पर आकर पड़ती है। आज हूरों के आक्रमण सिंध में हैं। हमको उनकी परवाह नहीं परन्तु यदि वही हमारे प्रांत में होने लग जाए तब कुछ खलबली मचेगी और होश तो तब आएगा जब हमारी बहू-बेटियों में से किसी को उठाकर ले जाएँ। फिर व्यक्तिगत रूप से यदि कोई बड़ा हो भी गया तो उसका क्या महत्व? वह तो हानिकारक ही है।हमारा सारा शरीर ही मोटा होता जाएँ तो ठीक है परन्तु खाली पैर ही सूजकर कुप्पास हो गया और बाकी शरीर वैसा ही रहा हो तो वह तो फील पाँव रोग हो जाएगा। यही कारण है कि इतने कार्यकर्ताओं ने व्यक्तिगत आकांक्षाओं को छोड़कर अपने आपको समाज उन्नति में ही लगा दिया है। हमारे पतन का कारण हममें संगठन

की कमी ही हैं। बाकी बुराइयाँ अशिक्षा आदि तो पतित अवस्था के लक्षण मात्र ही है। इसीलिए संगठन करना ही संघ का ध्येय है, और यह कुछ भी नहीं करना चाहता है। संघ का क्या व्यावहारिक रूप हैं, यह आप यदि कभी आगरा आवें तो देख सकते हैं। मेरा ख्याल हैं कि एक बार संघ के रूप को देखकर तथा उसकी उपयोगिता समझने के बाद आपको हर्ष ही होगा कि आपके एक पुत्र ने भी इसी कार्य को अपना जीवन-कार्य बनाया है। परमात्मा ने हम लोगों को सब प्रकार समर्थ बनाया है, क्या फिर हम अपने में से एक को भी देश के लिए नहीं दे सकते हैं। उस कार्य के लिए जिसमें न मरने का सवाल है, न जेल की यातनाएँ सहन करने का, न भूखों मरना है और न नंगा रहना है। सवाल है केवल चन्द रूपयों के न कमाने का। वे रुपये जिनमें निजी खर्च के बाद शायद ही कुछ बचा रहता। रही व्यक्तिगत नाम और यश की बात, सो तो आप जानते ही हैं कि गुलामी का कैसा नाम और कैसा यश? फिर मास्टरों की तो इ%जत ही क्या है? आपने मुझे शिक्षा-दीक्षा देकर सब प्रकार से योग्य बनाया। क्या अब आप मुझे समाज के लिए नहीं दे सकते हैं? जिस समाज के हम इतने गणी हैं। यह तो एक प्रकार से त्याग भी नहीं है, इनवेस्टमेंट है। समाज रूपी खेत में खाद देना है। आज हम केवल फसल काटना तो जानते हैं पर खेत में खाद देना भूल गये हैं, अत: हमारा खेत जल्द ही अन-उपजाऊ हो जाएगा? जिस समाज और धर्म की रक्षा के लिए राम ने वनवास सहा, कृष्ण ने अनेकों कष्ट उठाएँ, राणा प्रताप जंगल-जंगल मारे फिरे, शिवाजी ने सर्वस्व अर्पण कर दिया, गुरू गोविन्द सिंह जी के छोटे-छोटे बच्चे जीते-जी किले की दीवारों में चुने गए, क्या उनकी खातिर हम अपने जीवन की आकांक्षाओं का, झूठी आकांक्षाओं का त्याग भी नहीं कर सकते हैं? आज समाज हाथ पसार कर भीख मांगता है और यदि हम समाज की ओर से ऐसे ही उदासीन रहें, तो एक दिन वह आएगा जब हमको वे चीजें, जिन्हें हम प्यार करते हैं, जबर्दस्ती छोड़नी पड़ेगी। मुझे पूर्ण विश्वास हैं कि यदि आप संघ की कार्य-प्रणाली से पहले से परिचित होते तो आपके हृदय में किसी भी प्रकार की आशंका नहीं उठती। आप यकीन रखिए कि मैं ऐसा कोई भी कार्य नहीं करूंगा जिससे कोई भी आपकी ओर अंगुली उठाकर देख भी सके। उल्टा आपको गर्व होगा कि आपने देश और समाज के लिए अपने एक पुत्र को दे दिया है। बिना किसी दबाव के केवल कर्तव्य के ख्याल से आपने मेरा लालन-पालन किया। अब क्या अंत में भावना कर्तव्य को धर दबाएगी? अब तक आपका कर्त्तव्य अपने परिवार तक सीमित था। अब यहीं कर्तव्य सारे हिन्दू-समाज के प्रति हो गया है। यह तो केवल समय की प्रगति के साथ-साथ आपके कर्तव्य का विकास मात्र ही है। भावना से कर्तव्य सदैव ऊँचा रहता है। लोगों ने अपने इकलौते बेटों को सहर्ष सौंप दिया है। फिर आपके पास एक के स्थान पर तीन-तीन पुत्र हैं, क्या उनमें से आप एक को भी समाज के लिए नहीं दे सकते हैं? मैं जानता हूँ कि आप गनहींग नहीं कह सकते, कोई दूसरा स्वार्थी प्रवृत्ति वाला मनुष्य चाहे एक बार कुछ कह भी देता।

आप शायद सोचते होंगे कि यह क्या उपदेश लिख दिया है। न मेरी इच्छा है, न मेरा उद्देश्य ही यह है। इतना सब इसलिए लिखना पड़ा कि आप संघ से ठीक-ठीक परिचित हो जाएँ। किसी भी कार्य की भलाई-बुराई का निर्णय उसकी परिस्थितियों और उद्देश्य को देखकर ही तो किया जाता है। पं. श्यामानारायण जी मिश्र, जिनके पास में यहाँ ठहरा हुआ हूँ, वे स्वयं यहाँ के लीडिंग एडवोकट है तथा बहुत ही माननीय (जेल जाने वाले नहीं) जिम्मेदार व्यक्तियों में से हैं। उनकी संरक्षता में रहते हुए मैं कोई भी गैर जिम्मेदारी का कार्य कर सकूँ, यह कैसे मुमकिन है।

शेष कुशल है। कृपापत्र दीजिएगा। मेरा तो ख्याल है कि देवी का एलोपेथिक इलाज बन्द करवा के होमियोपैथिक इलाज करवाइए। यदि आप देवी की पूरी हिस्ट्री... और बीमारी तथा सम्पूर्ण लक्षण लिख भेजें तो यहाँ पर बहुत ही मशहूर होमियोपैथ हैं, उनसे पूछकर दवा लिख भेजूंगा। होमियोपैथ इलाज यदि दवा ठीक लग गई तो बिना किसी खतरे के ठीक प्रकार हो सकता है। भाईसाहब व भाभी जी को नमस्ते, देवी व महादेवी को स्नेह। पत्रोत्तर दीजिएगा। भाईसाहब तो कभी पत्र लिखते ही नहीं।

आपका भांजा

दीना

संदर्भ-सूची

1. पं. दीनदयाल उपाध्याय, कर्तृत्व एवं विचार
   लेखक - डॉ. महेशचंद्र शर्मा, अध्यक्ष 'एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान'
2. पंडित दीनदयाल उपाध्याय, व्यक्ति दर्शन
   संपादक - श्री कमल किशोर गोयनका प्रकाशक-दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली
3. पंडित दीनदयाल उपाध्याय, विचार दर्शन
   खंड-1 तत्व जिज्ञासा : श्री दत्तोपन्त ठेंगडी
   खंड-2 एकात्म मानव दर्शन : श्री बी.बी. नेने
   खंड-3 राजनीतिक चिन्तन : श्री भा.कृ. केलकर
   खंड-4 एकात्म अर्थनीति : श्री शरद अ. कुलकर्णी
   खंड-5 राष्ट्र की अवधारणा : श्री सी.पी. भिशीकर
   खंड-6 राजनीतिक राष्ट्र के लिये : श्री ब.ना. जोग
   खंड-7 व्यक्ति-दर्शन : श्री वि. ना. देवधर
4. मेरा देश-मेरा जीवन
   श्री लालकृष्ण आडवाणी (पूर्व उपप्रधानमंत्री भारत सरकार)
5. भारत निर्वाचन आयोग
   (आम चुनावों के समस्त आँकड़े)
6. पोलिटिकल डायरी-दीनदयाल उपाध्याय सुरुचि प्रकाशन, केशव कुंज, नई दिल्ली
7. आधुनिक भारत के निर्माता - पंडित दीनदयाल उपाध्याय, लेखक - महेशचंद्र शर्मा, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
8. सम्राट चन्द्रगुप्त-दीनदयाल उपाध्याय भारत नीति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली
9. प्रेरक पत्र, ज्ञान गंगा प्रकाशन, जयपुर
10. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-नानाजी देशमुख दीनदयाल शोध संस्थान, प्रभात प्रकाशन
11. श्री गुरूजी समग्र (1-12 खंड) डॉ. हेडगेवार स्मारक समिति, नागपुर
12. स्मरण शिल्प-दामु अण्णा दाते, हिन्दी अनुवाद-हेमन्त मुक्तिबोध
13. अखण्ड भारत क्यों?
    पं. दीनदयाल विचार प्रकाशन, म.प्र., भोपाल
14. राष्ट्र जीवन की दिशा- दीन दयाल उपाध्याय लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
15. एकात्म मानववाद के प्रणेता - दीनदयाल उपाध्याय लेखक अमरजीत सिंह, प्रभात पेपक बैक्स
16. एकात्म मानववादी शिक्षा दर्शन लेखक- राकेश दुबे विद्या भारत संस्कृति शिक्षा संस्थान कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
17. एकात्म मानव दर्शन एवं पाश्चात्य, चिंतन, लेखक- लगू सिंह, अर्चना प्रकाशक, भोपाल।
18. एकात्म मानव दर्शन
    प. पूज्य मा.स. गोलवलकर, दीनदयाल उपाध्याय, दन्तोपन्त ठेंगडी, सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली
19. The Two plans & Deendayal Upadhyaa Proabha Prakasna, New Delhi
20. Deendayal Upadhyaa A- Vibrant Humanist - Suresh Kumar Soni Regal Publications, New Delhi.